232.8
शुक्ल/रास

सप्तशती-तत्त्व

.32·8
म्लारास

श्री दुर्गा सप्तशती के ऐतिहासिक आख्यान

की

दार्शनिक व्याख्या (सोपान त्रय)

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी
भूमा वै सुखम्

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ

पुस्तकालय

परिग्रहण क्रमाङ्क 654

वर्गाङ्क 232.8

पुस्तकाङ्क शुक्ला/रा/स

समशनी-नव्व

सम्पादक

'कुलभूषण' पं० रमादत्त शुक्ल, एम० ए०

प्रकाशक

पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक

शाक्त साधना पीठ

प्रयाग-६

प्रथम संस्करण | ज्येष्ठ पूर्णिमा | सम्वत् २०३३

प्रकाशक
शाक्त-साधना-पीठ
अलोपीबाग मार्ग
प्रयाग—६

२३२८
शुक्ल/६/स

प्राप्ति-स्थान
शाक्त-साधना-पीठ
कल्याण मन्दिर (धार्मिक पुस्तकों के प्रकाशक-विक्रेता)
अलोपीबाग मार्ग
प्रयाग—६

मुद्रक
परा वाणी प्रेस
अलोपीबाग मार्ग
प्रयाग—६

अनुक्रमणिका

१ मधु-कैटभ बध-रहस्य (प्रथम साधन सोपान) १

२ महिषासुर बध-रहस्य (द्वितीय साधन सोपान) २३

३ शुम्भ-निशुम्भ बध-रहस्य (तृतीय साधन सोपान) ४५

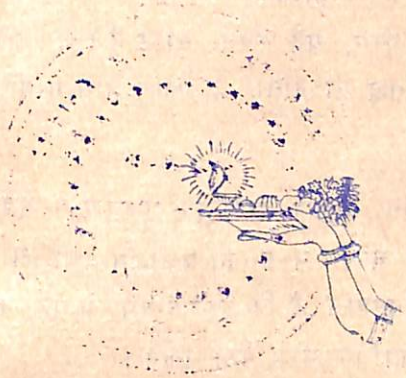

प्राक्कथन

"दुर्गा सप्तशती" ही एकमात्र ऐसा आख्यान है जिसका पाठ व्यापक रूप से विविध कामनाओं की पूर्ति के लिए आस्तिक लोग चिर काल से करते आ रहे हैं। शत-चण्डी, सहस्र-चण्डी, लक्ष-चण्डी आदि विख्यात अनुष्ठानों में इसी सिद्धि-दायिनी सप्तशती का पाठ होता आया है और आज भी होता दिखाई देता है। 'लक्ष्मी-तन्त्र' में इस सम्बन्ध में लिखा है कि--

सम्यक् हृदि स्थिता सेयं जन्म-कर्मावलि-स्तुतिः।
एतां द्विज-मुखात् ज्ञात्वा अधीयानो नरः सदा॥
विधूय निखिलां मायां सम्यक् ज्ञानं समश्नुते।
सर्व-सम्पद् आप्नोति धुनोति सकलापदः॥

अर्थात् भगवती के आविर्भाव और उनके कर्मों से युक्त इस स्तव को द्विज के मुख से जानकर अपने हृदय में निष्ठापूर्वक धारण कर जो मनुष्य सदा इसका मनन करता है, वह माया-जाल को नष्ट कर सद्-ज्ञान को प्राप्त करता है और समस्त आपत्तियों को दूर कर सभी ऐश्वर्यों को पाता है।

ऐसी महत्वपूर्ण "दुर्गा सप्तशती" के ऐतिहासिक आख्यान की दार्शनिक व्याख्या कितनी आवश्यक है, विशेषकर ज्ञान-मार्ग के साधकों के लिए, यह स्वतः स्पष्ट है। कर्म और भक्ति-मार्ग के पथिकों का उद्देश्य तो सामान्य अर्थ जानने मात्र से सिद्ध हो जाता है, किन्तु ज्ञान-मार्गी का बोध विशेष व्याख्या से ही सम्भव है।

प्रस्तुत व्याख्या मिथिला के विद्वान साधक 'दरभङ्गा-राजवंश-सम्भूत' स्वर्गीय श्री श्यामानन्द नाथ की लिखी हुई है। लगभग २० वर्ष पूर्व 'चण्डी' में इसका प्रकाशन हुआ था और सप्तशती के भक्तों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। हमें विश्वास है कि पुस्तक-रूप में यह और भी अधिक लोकप्रिय होगी और शक्ति के उपासक बन्धु इससे अधिकाधिक लाभ उठा सकेंगे।

ज्येष्ठ पूर्णिमा २०३३

—'कुल-भूषण'

मधु कैटभ बध-रहस्य

दुर्गा वा कौशिकी अर्थात् प्राण महाशक्ति का माहात्म्य महामुनि मार्कण्डेय जिज्ञासु क्रोष्टिक मुनि से कहते हैं। यह माहात्म्य केवल गाथा ही नहीं है। इसमें मूल प्राण-शक्ति की, जिससे वृहद् ब्रह्माण्ड एवं क्षुद्र ब्रह्माण्ड उत्पन्न और स्थित होते हैं तथा जिसमें अन्त में लीन होते हैं, तीनों प्रधान शक्तियों का वर्णन है। यही नहीं, उन तीनों इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का सम्वर्धन-क्रम भी सन्निविष्ट है, ताकि साधक सिद्ध हो सम-वलय प्राप्त करे। इसमें तीनों प्रधान योग-क्रम यथा-स्थान रखे गये हैं। प्रथम मन्त्र-योग वा भक्ति-योग। फिर इसके आधार पर क्रिया वा कर्म-योग। अन्त में इन दोनों के आधार पर ज्ञान-योग कहा गया है। बिना इच्छा ज्ञान नहीं (दूसरे मत से बिना ज्ञान, इच्छा नहीं। इन दोनों का पौर्वापर्य्य अर्थात् कौन पहिले और कौन पीछे, इसका निर्णय वैसा ही दुरूह है, जैसे पहिले वृक्ष हुआ या बीज, इसका निर्णय करना) और बिना ज्ञान क्रिया नहीं है। साथ ही, बिना क्रिया, ज्ञान नहीं है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि आनुमानिक ज्ञान अपूर्ण है। पूर्ण एवं यथार्थ ज्ञान है व्यावहारिक वा प्रत्यक्ष। इसके अनुसार क्रिया के पश्चात् ज्ञान का स्थान है। क्रिया के पूर्व का ज्ञान आनुमानिक होता है, जिसका आधार है एक-दैशिक अनुभव, यह सत्य भी हो सकता है और असत्य भी। फलतः यह ज्ञान बदलता रहता है। अतएव सत्य का ज्ञान क्रिया-योग से ही होता है, ऐसा मानना पड़ता है। इसी से सप्तशती-गत तृतीय वा उत्तम चरित ज्ञान-योग-विषयक माना गया है। अस्तु, इन तीनों के सम्बन्ध में पीछे कहा जायगा। सर्व-प्रथम उपदेश-दाता मार्कण्डेय और उपदेश-श्रोता क्रोष्टिक का परिचय देना आवश्यक है।

मार्कण्डेय हुये थे, हैं और होते रहेंगे—वे तपस्वी जीव, जो मृत्यु को अपने अधीनस्थ कर रखते हैं। इस पद का शब्दार्थ ही ऐसा है। 'मृकण्डु' से 'मार्कण्डेय' पद बना है। मृकण्डु का शब्दार्थ है मृत्यु-जयी अर्थात् इच्छा-मृत्युवाला व्यक्ति। मार्कण्डेय सप्त-कल्पान्त-जीवी कहे जाते हैं। ठीक ही है। सप्त-कल्प अर्थात् सप्त-चक्र के अन्तिम व्योम-चक्र में प्राण रखनेवाला मृत्यु को जीत लेता है। इसी से इस भौतिक जगत् में किसी भी उद्देश्य से वह जब तक चाहे रह सकता है। अन्त में उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर वह 'सम-वलय' नामक महा-निर्वाण प्राप्त कर लेता है। यही यथार्थ रूप का सिद्ध है और ऐसा ही महान् व्यक्ति उपयुक्त 'गुरु' पद से वाच्य है। 'उपयुक्त' शब्द का शब्दार्थ ही है समाधि में रहनेवाला। समाधि में रहना 'उस' से एक होकर रहना-'उप=समीपे + युक्तः=मिलितः'। यही प्रत्यक्ष ज्ञानी है। इसी को उपदेश देने का अधिकार है। जो स्वयं असिद्ध है, वह दूसरों को क्या सिद्ध बना सकता है?

स्वयमसिद्धः परान् कथं साधयति?

अब शिष्य-पक्ष का भी विचार कर्तव्य है। विद्यार्थी शिष्य नहीं है। इन दोनों में अन्तर है। विद्यार्थी है विद्या-प्राप्ति का इच्छुक और शिष्य (शस् धातु से बना) है वह, जो अपने को शासन में रखे, वही शिष्य प्रकृत शिष्य है।

क्रोष्ट मुनि प्रकृत शिष्य थे। 'क्रोष्ट' शब्द का अर्थ ही है आर्त्त होकर रोनेवाला—"क्रुश रोदक + तुन्"। दीन व्यक्ति अपने को शासन में रखता है। वही शरणागति का महत्व जानता है। सिद्धि की कुञ्जी है शरणागति। जगद्गुरु भगवान् कृष्ण का

भी यही सिद्धान्त है। परन्तु शरणागति का तात्पर्य है अनन्य शरणागति से। गीता में जहाँ भी इसका उल्लेख है, इसी अर्थ में है। पार्थ अर्थात् सब प्रकार से योग्य शिष्य अर्जुन को अनेक प्रकार के साधनों का क्रम बतलाकर अन्तिम सार सिद्धांत 'सर्व-धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' में इसका स्पष्टीकरण किया गया है। इस महा-सिद्धान्त के माननेवाले ऐसा कभी नहीं कहते कि 'मेरी आत्मा ऐसा ही कहती है' क्योंकि वे अपनी अपनी आत्माओं का पृथक् अस्तित्व शरणागति की धारणा से रहने नहीं देते। शास्त्र-विडम्बना से परे होने का यही एक उपाय है। कुलार्णव ने ठीक कहा है—

मोक्षदा गुरु-वागेका सर्वे शास्त्रा विडम्बकाः।

जिसने यह कुञ्जी पा ली, उसका जीवन सफल हो गया। उसके साधन-पथ में संशय-रूपी रुकावट नहीं रहती।

यही महर्षि मार्कण्डेय का उपदेश पूर्व-मीमांसाकार जैमिनि को बहुत दिन पूर्व विन्ध्याचल-निवासी पञ्च-हंस ने दिया था।

यह पञ्च-हंस कोई पक्षी नहीं था। पक्षी मनुष्य के सदृश बोल ही नहीं सकता और सिखाने पर यदि बोल भी ले, तो उच्च दार्शनिक वा उच्च क्रिया-योग की कथा नहीं कह सकता, अतएव वाच्यार्थ न लेकर रहस्यार्थ लेना होगा। 'विन्ध्य' पद से विशेष प्रकार से दित वा प्रकाशित स्थान का तात्पर्य है। यह स्थान हमारे शरीर में ही है, उसी प्रकार जैसे गङ्गा, यमुना, हिमालय, मेरु इत्यादि बाह्य जगत् वा वृहत् ब्रह्माण्ड की वस्तुएँ हमारे अन्तर्जगत् तथा क्षुद्र ब्रह्माण्ड में विद्यमान हैं। तन्त्रादि शास्त्र ऐसा ही कहते हैं। हमको भले ही इसका प्रत्यक्ष अनुभव न हो, पर जो यथार्थ तान्त्रिक या योगी हैं, उनको ऐसा अनुभव अवश्य प्राप्त है। तभी तो ऐसा उल्लेख हमें शास्त्रों में मिलता है।

अनुभवी महान् व्यक्तियों अर्थात् ऋषियों ने विन्ध्य का अर्थ कहा है हृदय का ऊर्ध्वांश अर्थात् उपादेय भाग। इसी स्थान पर अर्थात् उपादेय वा विशुद्ध हृदय में जैमिनि को उपदेश वा स्फुरण (ज्ञान की उपलब्धि) पञ्च-हंस से प्राप्त हुआ। यह पञ्च-हंस है पञ्च-तन्मात्रा वा पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय का संवर्धित रूप। तात्पर्य यह कि जैमिनि का हृदय जब विशुद्ध हो गया, तब उनकी पांचों तन्मात्राओं ने, जो संवर्धित हो चुकी थीं, उनको सप्तशती-तत्त्व की सूझ दी। यह हृदय और पञ्च-तन्मात्राएँ हम सभी जीवों में हैं परन्तु एक तो हमारा हृदय है हेय वा अशुद्ध और दूसरे पञ्च-हंस वा तन्मात्राएँ दुर्बल होने के कारण हमें ऐसी सूझ नहीं दे सकतीं। इस पञ्च-हंस का पूर्णत्व केवल पूर्ण-कल भगवान् में ही है।

अस्तु। क्रोष्ट से मार्कण्डेय कहते हैं—'हे निशा-मय! सूर्य का बालक सावर्णि किस प्रकार आठवाँ मनु हुआ, वह विस्तारपूर्वक (मुझसे) सुनो।' कथानक के विषय के अनुसरणार्थ विशेष विशेष व्यवहृत वाक्यों के रहस्यार्थ का ज्ञान आवश्यक है। क्रोष्ट को निशा-मय अर्थात् ज्योति वा ज्ञान-हीन क्यों कहा है? आखिर वह भी तो एक मुनि थे। फिर भी क्रोष्ट उस विशिष्ट ज्ञान से रहित होने के कारण ही मार्कण्डेय के यहाँ गये। इस प्रकार यह अर्थ भी युक्त है। इस पाद का क्रिया-वाचक रूप और भी सुन्दर है—नि=निःशेष-पूर्वक + शामय=शम् आलोचने अर्थात् निःशेष-पूर्वक सुनो।

अब सूर्य, सावर्णि और अष्टम मनु से क्या तात्पर्य है, यह देखना है—

'सूर्य'—इस पद से दृश्यमान भौतिक सूर्य का तात्पर्य नहीं है। जिस सूर्य को हम देखते हैं, वह जीव नहीं है, जो उसके मनुष्य वा अन्य जीव-वत् औरस, अण्डज आदि प्रकार के बच्चे हों। यह सूर्य भी हमारी पृथ्वी जैसा एक नक्षत्र है। जिस प्रकार पृथ्वी अण्डे-बच्चे नहीं देती, उसी प्रकार सूर्यादि नक्षत्र भी हैं। अतएव 'सूर्य का बालक' यह उक्ति रहस्यमयी है। सूर्य से अर्थात् चित्-सूर्य से प्राण-शक्ति वा प्रकाश-शक्ति का बोध है। महा-मूला प्राण-शक्ति अपनी भिन्न-भिन्न लक्षणाओं के आधार

पर भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से अभिहित होती है। 'सूयमानत्वात् सूर्य' अर्थात् शत्रु का जो नाश करे, वह है सूर्य। सविता—'सृजनत्वात्' अर्थात् किसी भी वस्तु को सृष्टि इसी से है। रवि—'रवत्वात्' अर्थात् जो सर्वदा रव वा शब्द करता रहे। इत्यादि।

उक्त प्रकाश-शक्ति की सवर्णा शक्ति से, जिसकी वैदिक संज्ञा सरण्यू है, आठवें मनु की उत्पत्ति हुई अर्थात् होती है। यह सवर्णा छाया वा प्रतिबिम्बिका (आभासिका) शक्ति है इसी अर्थ में सूर्य की अपनी सवर्णा शक्ति से उत्पन्न सावर्णि का आठवाँ मनु होना सार्थक हो सकता है क्योंकि संक्षेप में इसका यह तात्पर्य है कि मूल प्रकाश-शक्ति की छाया जिस भाग्यवान् पर पर्याप्त मात्रा में पड़ती है, वही आठवाँ मनु होता है।

मनु, वैसे तो प्रत्येक मनन-शील जीव है परन्तु पूर्ण मनन-शील व्यक्ति मात्र है मनु। मुनि का भी यही अर्थ है परन्तु सभी मुनि वा ओंकार अर्थात् ब्रह्म के मनन-कर्त्ता मनु नहीं कहे जा सकते। शास्त्रों में मनु कहे गये हैं प्रजापति के मानस पुत्र। प्रजापति का दोनों अर्थ है—ब्रह्मा और सूर्य, क्योंकि दोनों सृष्टि के करनेवाले हैं। ब्रह्मा जहाँ मन से सृष्टि करते हैं, वहाँ सूर्य अपनी रश्मि से। हमारा यह सिद्धान्त, जो ऋषियों का है, आधुनिक मनोविज्ञान और जीव-विज्ञान से अनुमोदित है। मानव-जाति का आदि-पुरुष मनु कहा जाता है। यह सिद्धान्त कुछ हमारा ही नहीं है। प्रायः अन्य देशों में भी मानव जाति का इतिहास मनु से ही आरम्भ होता है। यथा—मिश्र में 'मेन्स' वा 'म्ना', क्रीट देश में 'माइनास', लीडिआ में 'मेन्स', फ्रेजिया में 'मेनिस' और जर्मनी में 'मेन्नस' से मानव जाति का प्रारम्भ माना है।

अतएव जिस व्यक्ति पर पूर्णतः चिदाभास होता है, वही अष्टम मनु है। 'अष्टम' पद अनेकार्थ-वाचक है। 'अष्टौ परिमन् स अष्टमः' अर्थात् अष्ट-गुण-सम्पन्न ही अष्टम है। यह अष्ट-गुण क्रिया-योग-क्रम में अणिमा आदि अष्ट-सिद्धि का बोधक है और ज्ञान-योग-क्रम में विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान का। प्रकारान्तर में अहिंसा, सत्य, दया, त्याग, समता, दान, परोपकार और निरहंकार अष्ट-गुण हैं। तन्त्र-शास्त्रोक्त आठ पाशों से मुक्ति है अष्ट-गुण-सम्पन्नता।

महर्षि मार्कण्डेय ने कहा है कि इस अष्ट-सिद्धि के लाभ का एक-मात्र उपाय है भगवती महामाया की अनुकम्पा। यह महामाया कौन हैं, यह देखना है।

महर्षि मार्कण्डेय के अनुसार महाशक्ति के दो रूप हैं—एक चित्-शक्ति और दूसरा माया-शक्ति। आधुनिक विज्ञान का भी ऐसा ही सिद्धान्त है कि शक्ति (इनर्जी) मुख्यतया दो रूप की है—एक स्थाणु (स्टेटिक) और दूसरी विकासत्मिका (काइनेटिक)। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि माया-वाद शांकर वेदान्त में भी है और शाक्त-वेदान्त में भी। परन्तु दोनों की परिभाषाओं में भेद है। (इसी तरह दोनों के विवर्त-वादों में भी मौलिक भेद है।) शांकर माया-वाद जहाँ माया को चित्-शक्ति वा ब्रह्म से भिन्न समझ कर माया को 'मिथ्या-भूता सनातनी' कहता है, वहाँ शाक्त-वेदांत माया को चित्-शक्ति का अपर रूप समझता है। तात्पर्य कि शांकर माया-वादी माया को 'माति परिच्छिन्नति इति माया' की व्युत्पत्ति से ब्रह्म वा सत्य, शिव और सुन्दर को ढँक देनेवाली कहते हैं किन्तु शाक्त माया की उत्पत्ति 'मीयते अनया इति माया' के आधार पर इसे ब्रह्म-ज्ञान-दात्री कहते हैं।

ऐसा कहना अयुक्त नहीं तो क्या है कि एक ही वस्तु का एक रूप सत्य है और दूसरा असत्य? यथा विद्युत् सत्य और विद्युल्लता असत्! यदि अपरिवर्तन-शील ब्रह्म वा चित्-शक्ति सत्य है, तो इसी का अपर रूप परिवर्तन-शील माया भी सत्य ही है। रहा भिन्न होने का सिद्धान्त, वह भी यदि श्रुति-वाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' मानें, तो ब्रह्म और माया में अभेद मानना पड़ता है। फिर भिन्न मानने से अद्वैत सिद्धान्त का निरास हो जाता

है। घबड़ाकर शंकर ने माया का निरूपण न कर कहा कि माया न सत् (सत्य) है और न असत् है। यह तर्क के सर्वथा विरुद्ध है। इसी से श्रुति की युक्ति है कि शक्तिमान् से शक्ति भिन्न नहीं है-- 'शक्ति-शक्तिमतोरभेदः'। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण का भी यही सिद्धान्त है कि मैं अमृत वा अविनाशी वा अपरिवर्तन-शील भी हूं और मृत्यु वा विनाशी वा परिवर्तनशील भी हूँ; सत् भी हूँ और असत् भी—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

(गीता ९।१९।)

योग-वासिष्ठ का भी यही सिद्धान्त है।

शंकर का ब्रह्म—निर्गुण, निष्कल इत्यादि ही माया है, जब वही सगुण और सकल होता है। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि यह तर्क के विरुद्ध है। ठीक, यहाँ पर स्पष्ट-विरोधी उक्ति तर्क से विरुद्ध है। इसी से तो 'वह' अप्रतर्क्य वा तर्क से परे कहा गया है। तन्त्रों में 'उसका' स्वरूप ही 'विरुद्ध-वाक्यार्थ-शरीर-मण्डला' कहा गया है। कारण तर्क की जवीयता वहाँ तक नहीं है। इसी हेतु कहा गया है कि तर्क से 'उस' को वा 'उस' के स्वरूप को दूषित नहीं करना चाहिये। वह है बुद्धि के (स्वतः तर्क के) परे। सुतरां तर्क से हम उसे वा उसके स्वरूप को जान नहीं सकते। तब रही अनुभूति, इससे भी पूर्णतया नहीं जान सकते। इसी से गीतादि शास्त्रों में कहा गया है कि 'उसको' पूर्णतया कोई भी नहीं जान सकता। एकमात्र वही अपने को जानता है।

अब प्रश्न है कि तब हम करें क्या। जानना तो सभी चाहते हैं क्योंकि यह मानव धर्म है। 'उसके' देखनेवाले 'उसको' जहाँ तक वा जिस रूप में देख सके हैं, अपनी अपनी अनुभूति के अनुसार कह गये हैं। जिन लोगों ने सुना, वह कहते हैं कि 'इति श्रूयते' अर्थात् ऐसा सुना जाता है (यही श्रुति है), जिन्होंने सुना, वह स्मरण कर कहते हैं 'इति स्मर्यते' अर्थात् ऐसा स्मरण होता है। यही स्मृति है और ज्ञानी-गण अपने अपने दर्शनों में अपनी अपनी पहुँच तक की ही बातें लिखते हैं। श्रुतियाँ भी अनेक, स्मृतियाँ भी अनेक और दर्शन भी अनेक हैं। हमारे आर्य धर्म की यही विशेषता है, जिस प्रकार एक चीनी की बनी असंख्य प्रकार की मिठाइयाँ सजी-सजाई रखी रहती हैं, जिनमें से ग्राहक अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार चुन कर उपयोग करता है, उसी प्रकार हमारे यहाँ हमारे पूर्वज ऋषियों ने असंख्य प्रकार के ब्रह्मानन्द रस स्वरूप चीनी से बनी हुई मिठाइयाँ हमारे लिये प्रस्तुत कर रखी हैं। हम अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार साधन-रूपी मूल्य चुका कर ब्रह्मानन्द का रसास्वादन कर जीवन को सफल कर सकते हैं। कौन सी अच्छी वा उपादेय एवं कौन सी हेय है इसका निर्णय करना असम्भव-सा है।

बौद्ध भी अपने माया-वाद से, जिसका निरास शांकर माया-वाद करता है, सिद्धि को पाता है। शांकर माया-वादी भी, जिसका निरास शाक्त माया-वाद करता है, सिद्धि प्राप्त कर ही लेता है और शक्ति माया-वादी भी महामाया की अनुकम्पा से सिद्धि प्राप्त करता है। इस अवस्था में किसी भी सिद्धान्त को हेय नहीं कह सकते। जो कोई ऐसा करते हैं, वह व्यर्थ श्रम करते हैं।

हम भगवती वा माया का आश्रय लें, तो कोई आपत्ति नहीं। यह मार्ग सालम्ब योग के समान है। इसी की यह विशेषता है कि यह निरापद है। निरालम्ब योग निरापद नहीं है। सुतरां हमको तन्त्र के बताये मार्ग से चलना ही श्रेयस्कर है। गीता का भी यही सिद्धान्त है। स्मृतियों का भी यही मत है। मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत सप्तशती देवी-माहात्म्य में भी अनेक बार कहा गया है कि वही सनातनी परा-विद्या अर्थात् महामाया मुक्ति भी देने-वाली है और बन्धन में भी रखने-वाली है। तात्पर्य कि महामाया के स्वरूप का ज्ञान होने से मुक्ति और अज्ञान से बन्धन है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि महामाया की उपासना से हम मुक्त और अवहेलना से बद्ध होते हैं। इसी सिद्धान्त

की व्याख्या सप्तशती में है।

मार्कण्डेय ने कहा है कि भगवती महामाया स्वतन्त्र हैं। दूसरे शब्दों में अव्याहतेच्छा अर्थात् जो चाहें, सो करें (कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थतया अव्याहतेच्छा)। इन्हीं के अनुभव से मनुत्व प्राप्त होता है। अनुभाव (अनु-पश्चात भूयत इति अनुभवः) किसे कहते हैं, यह देखना है। महा-माया तो अचिन्त्य शक्ति-रूपिणी हैं। इसी से दुर्गा अर्थात् दुर्विज्ञेया कही जाती हैं। ये हैं सर्व-भाव-रहिता। फिर इनका अनुभाव कैसा? पर नहीं, यहाँ चूंकि विरुद्ध-वाक्यार्थ-शरीरिणी हैं, सर्व-भाव-सम्पन्ना भी हैं। यही इनका स्वभाव है। इसी स्वभाव के अनुभव वा अनु-चिन्तन से ये प्रसन्न होती हैं।

यहाँ 'प्रसन्न'-शब्द का वह वाच्यार्थ, जो साधारणतया हम लेते हैं, अध्यात्म-योग वा ज्ञान-योग में नहीं ले सकते हैं क्योंकि इससे तात्पर्य का बोध नहीं होता। प्रसन्न 'प्र + सद्—आगमने + क्त' का अर्थ है प्रकृष्ट-रूप से आया वा ज्ञात हुआ। इसी का नाम तादात्म्य है तात्पर्य कि तादात्म्य होने पर ही प्रकृततः प्रसन्न होती है। इसी से मुक्ति और अप्रसन्नता अर्थात् अज्ञान से बन्धन। अस्तु। ज्ञानी जीव इस अनुभव को प्राप्ति किस तरह करते हैं, यही कहा है—

पूर्व-काल में स्वारोचिष मन्वन्तर में चैत्र-वंशीय सुरथ समस्त पृथ्वी-मण्डल का अधिपति था। वह अपनी प्रजा का पालन औरस पुत्र के समान ही किया करता था। तथापि उसके अधीनस्थ माण्डलिकों ने राजा सुरथ से शत्रुता कर ली और उसकी राजधानी कोलापुर के विध्वंसी हो गये—

कोला-विध्वंसिनस्तथेति मैथिलाः।

जब युद्ध हुआ, तो इन माण्डलिकों ने सुरथ को हरा दिया। फिर तो सुरथ अपने नगर और तद्-वर्ती अञ्चल मात्र का अधिपति रह गया। सुरथ का पराभव इतने में ही शेष नहीं हुआ। एक तरफ माण्डलिकों ने नगर पर भी आक्रमण किया और इसके अतिरिक्त उसके मन्त्रियों ने भी विश्वासघात कर राज-कोष भी अपहृत कर राजा को निःस्व-प्राय बना दिया। निरुपाय हो सुरथ मृगया के बहाने घोड़े पर चढ़ जङ्गल चला गया। वहाँ मेधा ऋषि का आश्रम था। शिष्य-वृन्द से आशोभित और प्रशान्त जन्तुओं से आवृत। ये जन्तु, जो स्वतः अहिंसक थे, उनका कहना क्या, हिंसक जन्तु भी पूर्णतः अहिंसक हो रहे थे। ऐसा प्रभाव था उस मेधा-मुनि का।

सुरथ यद्यपि मुनि द्वारा सत्कृत हो अवस्थान करता था। फिर भी उसके मन में सर्वदा यह चिंता तरङ्गित होती थी कि मेरे बाप पुरुषाओं के राज्य का पालन असद्-वृत्तिवाले मेरे शत्रु-वर्ग अवश्य ही उचित प्रकार से नहीं करते होंगे, मेरे सर्व-श्रेष्ठ वाहन गज की दुर्गति करते होंगे। हमारे परिजन, जिनको मैं नित्य भोजन-दान, वस्त्र-दान, धन-दान आदि से परितुष्ट रखता था, किस प्रकार दिन बिताते होंगे एवं मेरी मितव्ययता से सञ्चित राज-कोष का अमित-व्ययी शत्रु के हाथों में पड़ने से अत्यन्त ह्रास हुआ होगा। कुछ ही दिनों में पार्थिव सुरथ से एक वैश्य की साक्षात् भेट हो गई। वह भी संसार से उदस्त हो वहीं आ गया था।

सुरथ को अपना परिचय देते हुये उस वैश्य ने कहा—'मेरा जन्म धनिक वैश्य-कुल में हुआ है। मेरा नाम समाधि है। परिवारवाले स्त्री-पुत्रों ने धन के लोभ में पड़कर मुझे जब घर से बहिष्कृत कर दिया, तो इष्ट-मित्रों ने भी मुझ निःस्व को आश्रय नहीं दिया। इसी से विरक्त हो यहाँ जङ्गल चला आया। पर यहाँ भी शान्ति नहीं। सर्वदा उन्हीं के सम्बन्ध में, जिन्होंने मेरे साथ ऐसा असद्-व्यवहार किया है, चिन्ता से उद्विग्न रहा करता हूँ कि वे कैसे हैं, कुशल वा अकुशल, धर्म-पर हैं कि धर्म-च्युत इत्यादि। यद्यपि जानता हूं कि जब जिन्होंने मुझसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है, तब फिर उन पर मेरी ममता कैसी? पर मन नहीं मानता। अपकारी कुटुम्ब-वर्ग के प्रति उदासीन नहीं होने देता। इसी उधेड़-बुन में हूँ।'

यह सुन सुरथ समाधि को साथ ले इस समस्या के समाधान के लिये मेधा ऋषि के पास गये। मेधा के पूछने पर सुरथ ने सब हाल कहा—'भगवन्!

हम दोनों क्रमशः राज्य-भ्रष्ट और गृह-भ्रष्ट हैं। इसका कारण भी जानता हूँ। ज्ञान तो है ही, फिर क्यों न जानूँ? फिर भी दुःखी हो रहा हूँ इस आश्चर्यमय समस्या का समाधान कर दें।'

सुरथ की उक्ति सुन ऋषि विहँसे और बोले—हे सुरथ! ज्ञान तो सब जीवों को है। एक-एक विषय का वा कतिपय विषय-राशि का। जैसे कोई जीव दिन में देख सकता है, पर रात में नहीं, फिर कोई जीव रात में ही देख सकते हैं, दिन में नहीं। इसी प्रकार किसी जीव को एक विशिष्ट विषय का ज्ञान है, पर और का नहीं। इससे यह नहीं कह सकते कि सभी जीव ज्ञानी हैं। जीव सर्वज्ञ न होकर भी ज्ञानी तो है ही। मानव जीव की क्या कथा, पशु-पक्षी और वनस्पति को भी खाने-पीने, सोने इत्यादि का ज्ञान है। इससे क्या वे ज्ञानी हो गये? मानव जाति की यह अहम्मन्यता ही है कि हम ज्ञानी हैं। देखा जाय, तो मानव जाति से अधिक ज्ञानी है पशु जाति और पक्षी-जाति। देखो, मानव-जाति स्वार्थ-वश अर्थात् प्रत्युपकार की आशा से अपने बच्चों का प्रतिपालन करती है, पर पशु वा पक्षी ऐसा नहीं करते। हम आज बच्चों को पालेंगे, तो वे भी हमारी वृद्धावस्था में हमारा पालन-पोषण करेंगे, ऐसा भाव उनमें नहीं रहता। तो फिर कौन कर्त्तव्य-परायण वा ज्ञानी हुआ? ज्ञानी एवं विवेक-बुद्धि-सम्पन्न होने की तुम्हारी धारणा पूर्णतः भ्रान्ति है। इन्द्रिय-विषयक ज्ञान से कोई ज्ञानी नहीं हो सकता। कहोगे कि सब मनुष्य नहीं, तो जो योगी हैं, वे तो ज्ञानी हैं। पर नहीं, वे जन-साधारण से अधिक ज्ञानी हो सकते हैं किन्तु प्रबुद्ध वा प्रकृत ज्ञानी नहीं कहे जा सकते। शास्त्रों का कहना है—

प्रबुद्धाः कथिता ये ते योगिनस्ते मयानघ।
प्रसङ्ग-रूपान्तरतो न प्रबुद्धा विपश्चितः॥
(योग-वाशिष्ठः)

इस पर भी अपूर्ण परमात्म-ज्ञानियों को शिक्षा के लिये भगवती महामाया मोह-गर्त्त में ममता के जाल में बाँधकर गिरा देती है।

इस आश्चर्य-जनक कथा को सुनकर सुरथ और समाधि ने चकित हो ऋषि से जिज्ञासा की—'भगवन्! यह महामाया देवी कौन हैं, क्या हैं, किस प्रकार उत्पन्न हुई हैं और इनका स्वरूप तथा स्वभाव क्या है?'

इसके उत्तर में ऋषि ने कहा—यह विश्व-रूप में नित्य रहकर विश्व को व्याप्त कर रहती है। परन्तु जन-साधारण की यही धारणा है कि देव-गणों की कार्य-सिद्धि अर्थात् धर्म के संस्थापन के लिए विशेष-विशेष अवसरों पर विशेष-विशेष रूपों में आविर्भाव लेती है। दृष्टान्त रूप एक का इतिहास सुनाता हूं। सुनो—

कल्पान्त होने पर जब एकार्णवा हो रही थी; भगवान् विष्णु शेषनाग की शय्या पर योग-निद्रा में अभिभूत हो रहे थे। उसी समय उनके कर्ण-मल से मधु और कैटभ-संज्ञक दो असुर उत्पन्न हुए। दोनों अत्यधिक पराक्रमी होने के कारण मदोन्मत्त थे। वे अपने अतुल पराक्रम का परिचय देना चाहते थे। पर वहाँ सिवा ब्रह्मा जी के, जो भगवान् विष्णु के नाभि-कमल पर अवस्थित थे, और कोई था नहीं। बस, वे ब्रह्मा जी पर चढ़ दौड़े। ये बिचारे थे असमर्थ। रहे विष्णु, वह भी योग-निद्रा के वश में अकर्मण्य हो रहे थे। रक्षा का एक ही उपाय था कि विष्णु महाराज जगें और इस दुष्ट-द्वय का संहार करें। अतएव ब्रह्मा जी योग-निद्रा भगवती का स्तवन करने लगे—

'विश्व की स्वामिनी, जगतों की धात्री, स्थित रखनेवाली और लय करनेवाली अतुल तेजोवती विष्णु की शक्ति का स्तवन करता हूं—'हे महामाये, तू स्वाहा, तू स्वधा, तू वषट्कार और तू ही स्वरात्मिका है। तू ही सुधा, तू ही अक्षरा वा अविनाशी, नित्या है। तू ही प्रणव की तीनों मात्रा अकार, उकार और मकार- स्वरूपा है। तू ही अर्ध-मात्रा है, जिसका उच्चारण विशेष प्रकार से होता है। तू ही 'वह' है, तू ही सावित्री, तू ही परा जननी है। तू ही विश्व की स्थिति रखनेवाली है। तुझसे ही विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन तीनों के कर्तृत्व में तुम्हारे तीन

रूप होते हैं। तू ही महा वा परा-विद्या है, तो तू ही महा-अविद्या है। तू ही महा-मेधा अर्थात् स्मरण-शक्ति है, तो तू ही महास्मृति अर्थात् भुलाने-वाली महा-शक्ति है। तू ही महादेवी वा प्रकाश-शक्ति (ज्ञान-शक्ति) है, तो तू ही महा-मोहा अर्थात् महाभ्रान्ति भी है। तात्पर्य कि तू महा आसुरी वा समस्त आसुरी सर्गों की पुञ्जा-स्वरूपा भी है। तू जगत् के त्रिगुण की विभाविनी प्रकृति-रूपा है। तू ही (रात्रि में प्रधान) कालरात्रि, महारात्रि, मोह-रात्रि एवं दारुण-रात्रि-स्वरूपा है। तू ही श्री, ह्री, ईश्वरी, बोध करानेवाली बुद्धि है। पुनः तू ही लज्जा-शक्ति, पुष्टि-शक्ति, तुष्टि-शक्ति तथा शान्ति, क्षान्ति शक्ति-द्वय है। तेरे आयुध हैं खड्ग, शूल, गदा, चक्र, शङ्ख, धनुष, बाण, भुशुण्डी तथा परिघ। तू सामान्य सौम्य-रूपा है। वरन् सबसे अधिक और अशेष सौम्य परा सुन्दरी है। तू ही सर्व-श्रेष्ठ ब्रह्मा, विष्णु और महेश की परमेश्वरी है। कितना कहा जाय ? जगत् के सत् वा अपरिवर्तन-शील पदार्थ-समूह एवं असत् वा परिवर्त्तन-शील पदार्थ-समूह की कारण-शक्ति तू ही है। ऐसी परि-स्थिति में तेरी स्तुति करना हास्यास्पद नहीं तो क्या है। लोग समझते हैं कि विष्णु ही सृष्टि, स्थिति और लय-कर्त्ता हैं। पर वह भी तो तेरी योग-माया के कारण निद्रा में अभिभूत पूर्ण निष्क्रिय हो रहे हैं। ऐसी प्रभाव-शालिनी की स्तुति कैसे हो ? इतना ही नहीं, हम तीनों तो तुझसे ही उत्पन्न हैं, फिर क्या समझ कर स्तुति करूँ ? तात्पर्य कि चूँकि कार्य को कारण का पूर्ण ज्ञान नहीं होता, कार्य कारण का बखान कर ही नहीं सकता। सुतरां तुझसे यही इतनी प्रार्थना है कि इस आसुरी सर्ग-द्वय मधु और कैटभ को मुग्ध अर्थात् जड़-वत् कर सोते हुए जगन्नाथ विष्णु को जाग्रत करो, ताकि दोनों का नाश हो।'

ऐसी स्तुति करने का यह फल हुआ कि तामसी अर्थात् तमोगुण की उत्पादन करनेवाली भगवती महामाया अपनी योग-माया शक्ति को विष्णु के नेत्र, मुख, नाक और हृदय से हटाकर ब्रह्मा के नेत्र-द्वय पर जा अवस्थित हुई। फिर क्या था। जगन्नाथ जनार्दन एकार्णवासन से उठ बैठे। उन्होंने क्रोधाक्त-रक्त नेत्र-वाले दोनों असुरों को ब्रह्मा जी को दबोचने को तैयार खड़े देखा। अतः फुर्ती से खड़े हो वे उन दोनों से बाहु-युद्ध करने लगे। यह युद्ध पांच हजार वर्ष तक होता रहा। दोनों वा तीनों समान बली थे। सुतरां कोई विजयी नहीं हुआ। अन्त में महामाया की प्रेरणा से असुर-द्वय जोश में आकर बड़े गौरव से विष्णु से कह बैठे—'तुम भी वीर हो। तुम्हारी वीरता से प्रसन्न होकर हम तुमको मन-चाहा वर देना चाहते हैं। अब बोलो, क्या चाहते हो ?'

इस पर विष्णु ने कहा कि—'मेरे द्वारा तुम दोनों का नाश हो, यही वर मांगता हूं।'

अब तो मधु-कैटभ को भासित हो गया कि ठग गये। तथापि एक अच्छा बहाना निकाल कर बोले कि 'जहाँ, पृथ्वी जल से मग्न न हो, वहीं हमें मारो।'

इसका भी उपाय महा-माया की कृपा से विष्णु को झट सूझ गया। उन्होंने उन दोनों के मुण्ड को अपने जंघे पर रख चक्र से काट डाला।

यह एक प्रकार का राहस्यिक आविर्भाव हुआ यद्वा होता है उस त्रि-शक्ति-मयी महामाया का। इसको स्फुरण आविर्भाव कहते हैं, जो एक प्रकार से ज्ञान वा बुद्धि-शक्ति से होता है। प्रकारान्तर में इसको इच्छा-शक्ति का आविर्भाव कह सकते हैं। (इसका निर्णय कठिन है। कारण शास्त्रों में मत-भेद है।) यह प्रत्यक्ष रूप का आविर्भाव नहीं है। इसके बाद के दोनों आविर्भावों की कथा क्रमशः मध्यम चरित में और उत्तम चरित में कही गई है। यही दोनों प्रत्यक्ष रूप के हैं। यह प्रथम आविर्भाव भक्ति-योग का फल है, दूसरा क्रिया-योग का वा हठ-योग का और तीसरा ज्ञान-योग वा राज-योग का। इन दोनों का उल्लेख यथा-क्रम और यथा-स्थान पर किया जायगा।

इस लीला के पठन और श्रवण से देवी अर्थात् लीला-मयी व्यवहार-कुशला प्रकाश-शक्ति की

एकांगी महिमा का ज्ञान होता है। ऐसा ज्ञान साधन की भूमिका मात्र है। यथा विश्वसित सूत्र से यह जानना है कि लड्डू मधुर होता है और उसके खाने से ऐसा स्वाद मिलता है और ऐसा फल है। परन्तु लड्डू बनाकर उसे खाना मात्र उद्देश्य होना चाहिये, जिससे सद्यः फल की प्राप्ति होती है।

श्रुति कहती है—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' अर्थात् सुनो, सोचो और साधन करो। सुनना और सोचना दोनों ही व्यर्थ है, यदि उसके अनुसार क्रिया वा साधन न करें। इस सिद्धान्त के अनुसार देवी-माहात्म्य का पाठ मात्र करें, यह उचित नहीं। सुनकर वा पढ़कर मनन करना चाहिये। पर इसमें गुरु की आवश्यकता है, जिनके बिना इसकी बारीकी का ज्ञान होना असम्भव है, क्रिया करने का व्यावहारिक ज्ञान तो दूर की बात है।

परन्तु खेद का विषय है कि इस तरफ विज्ञों का भी ध्यान नहीं है। शायद यह समझ कर कि दार्शनिक अर्थ के ज्ञान से जन-साधारण में भक्ति नहीं रहेगी, वे रहस्यार्थ को प्रकट नहीं करते। कुछ सीमा तक उनकी आशङ्का निर्मूल नहीं है। अकृतोपासक को ज्ञान-काण्ड की बात बताने से उसकी भक्ति की मात्रा का ह्रास होता है। सर्व-साधारण को, जिनमें अकृतोपासकों की संख्या अधिक है, यदि यह बताया जाय कि तुममें ही विष्णु और ब्रह्मा हैं तथा मधु-कैटभ भी हैं, जिनको तुममें स्थित महामाया शक्ति की प्रसन्नता से मरवाना है, तो इष्टापत्ति के बदले अनिष्टापत्ति की ही अधिक सम्भावना है। कारण वह इस रहस्य को समझ ही नहीं सकता। गोपनीयता यहीं उपयोगी है। परन्तु जो कृतोपासक अर्थात् मध्यमाधिकारी है, उसको तो रहस्य का बतलाना आवश्यक है। यही है तन्त्रों की गोपनीयता का सिद्धान्त—

मुखादेव ज्ञातव्यः।

रहस्योद्घाटन के हेतु हमें सर्व-प्रथम समष्टि-व्यात्मक संज्ञाओं के व्यष्ट्यात्मक रूप का परिचय प्राप्त करना है। तत्पश्चात् हम उस रहस्य से किस प्रकार सद्यः लाभ उठावें, यह सद्गुरु से सीखें। परिचय के सम्बन्ध में यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यहाँ संक्षिप्त परिचय ही कराया जायगा।

कथानक का रहस्यार्थ ऐसा है—

पूर्व-काल से सृष्टि के आदि-काल का ही बोध है, कुछ हजार दो हजार, लाख वा करोड़ वर्ष पूर्व का नहीं। व्यष्टि में जीव के यथार्थ ज्ञानोदय के पूर्व-काल का बोध है। जीव जब सुरथ अर्थात् सुन्दर शरीर 'सु=सुन्दर + रथ=शरीर' हो जाता है, तब वह स्वारोचिष् के अन्तर में अर्थात् अपने प्रकाश-क्षेत्र में आ जाता है। यही मानव-जीव चैत्र-वंश-समुद्भव वाच्य होता है। 'चित्रायां भवः चैत्र.' अर्थात् अनेक प्रकार की चित्र-विचित्र योनियों से विकसित मानव जीव बुद्धि-सम्पन्न होता है।

आधुनिक जीव-विज्ञान का भी यही सिद्धान्त है कि मूल-योनि से सर्व-प्रथम एक कोशवाला जीव उत्पन्न वा विकसित होता है। यह जल जीव-कोष मत्स्य कहा जाता है। फिर तो इससे बिच्छू, मछली मेढक, उरग, स्तन-पायी जीव बन्दर होते हैं। फिर वाक्-शक्ति-रहित मनुष्याकार जीव विकसित होता है, जिससे वाक्-शक्ति और तत् पश्चात् बुद्धि-युक्त मनुष्य जाति हुई है। इसी का नाम है चैत्र-वंश-समुद्भव, न कि चैत्र वा चित्र नामक वंश में उत्पन्न का।

यह क्षिति-मण्डल का राजा कहा गया है। ठीक, क्षिति नाम है विनाशी वा अनित्य पदार्थ का 'क्षि—नाशे + क्तिन्'। इससे अनित्य शरीर का बोध है। इस शरीर को जो प्रकाशित करे, वही राजा 'राज् प्रकाशे'। इससे बोध है उस सुरथ जीव की ज्ञानेन्द्रियों में प्रकाश की अंकुरितावस्था का होना। यह हुई ज्ञान-योग-क्रम की बात। क्रिया-योग-क्रम में पृथ्वी-मण्डल अर्थात् मूलाधार-चक्र का ज्ञानी, जिसकी प्रगति सुषुम्ना के अन्तर्गत चित्रा नाड़ी में हो रही है।

इसी प्रकार का सुरथ जीव अनेक चित्र जन्म-

जन्मान्तर की साधना से सम्पन्न दिव्य-ज्योति के आभास से, जिसको शास्त्रों में विदाभास कहते हैं, दीप्त हो 'स्व-पथ' पर अग्रसर होने को आतुर रहता है। ऐसी आतुरता आने पर ही माँ उसके पास गुरु के रूप में आती है और बाँह पकड़ अपने पास ले चलती है। परन्तु सभी कुछ नियत अवसर पर ही होता है, आगे-पीछे नहीं। निरुद्देश्य विकासवादी भले ही इस सिद्धान्त को न मानें। हम तो सोद्देश्य विकास-वादी हैं। नियति द्वारा निश्चित उक्त अवसर आता है जब सुरथ-जीव के माण्डलिक-गण अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ विद्रोही होकर कोलापुर❀ अर्थात् ज्ञान-भाण्डार में विपर्यय लाती हैं।

अब, ज्ञान-भाण्डार के नाश से क्या होता है? चरम विषाद की उत्पत्ति। फिर ज्ञान भाण्डार के नाशक कौन हैं, यह भी विवेचनीय है। इसको शास्त्रों ने असंभावना अर्थात् संशय जनित विपरीत भावना को बताया है, जो अविद्या शक्ति का आभान पादकावरण है। यह संशय ही है, जो जीव को किसी एक सिद्धान्त पर नहीं रहने देता, जिससे जीव को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। संशय से बढ़कर हमारा कोई भी शत्रु नहीं। इसके पञ्जे में जो आया, वह गया। 'संशयात्मा विनश्यति'-गीता। इसकी शास्त्रीय परिभाषा—'एकाधिकरणे परस्पर-विरुद्ध नाना-धर्म-ज्ञानमेव संशयः' ऐसा ही बतलाती है।

सच है, परस्पर-विरुद्ध भाववाले नाना धर्म के फेर में पड़ मानव-जाति की दुर्दशा होती है। वर्तमान मानव- समाज इसका प्रज्वलन्त दृष्टान्त है। इसी संशय-रूपी आसुर के पञ्जे में पड़ हम सभी ईसाई मत के, इसलाम मत के और अपने मत के सिद्धान्तों की एक अजब खिचड़ी पका एक किंभूत किमाकार धर्मावलम्बी वा यों कहें धर्म-रहित हो रहे हैं। इसके दो कारण हैं—एक बुद्धि-वाद वा तर्क-वाद का बाहुल्य और दूसरा यथार्थ संशयोच्छेद-कारक गुरुओं का अभाव। सुसंस्कार-सम्पन्न जीव भी इसका शिकार हो जाता है।

चूँकि सुरथ सद्गुरु का चरणाश्रित नहीं था, उसकी ऐसी दशा हुई अर्थात् होती है। सद्गुरु के चरणाश्रित होने से जो होता है, वही तो सप्तशती के तीनों चरितों में है। हम शास्त्र के निर्देश 'मुक्ति-सौधस्य सोपानं प्रथमं दीक्षणं भवेत्' अर्थात् मुक्ति-रूपी अट्टालिका की पहली सीढ़ी दीक्षा है, जगत्गुरु शङ्कराचार्य के उपदेश 'शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्रेण ब्रह्म-ज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्'—मुण्डक भाष्य १।२।१२। तात्पर्य शास्त्र-ज्ञाता भी गुरु की सहायता के बिना ब्रह्मानुसन्धान न करे और योग-वासिष्ठो आदेश को भी (देखिये निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध ४१।१७) नहीं मानते। अपनी अपरिपक्व बुद्धि से अहम्मानी हो, शास्त्रों का अर्थ लगा संशय-समुद्र की तरङ्गों पर हम कहाँ जा रहे हैं, यह कोई नहीं कह सकता।

अस्तु, सुरथ को स्व-पुर अर्थात् आत्म-नगर में भी किसी प्रकार से शान्ति नहीं मिलती है। कारण यह 'हृत-स्वाम्यः' अर्थात् ईश्वरीय भाव से वञ्चित अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व में भी सन्देही हो जाता है—'हृत स्वामिनः ईश्वरस्य भावः स्वाम्यं यस्मात् सः।' तात्पर्य कि वह वेदोक्त स्पन्द वादी अर्थात् ईश्वर है वा नहीं (जैसा कि आज संसार हो रहा है) हो जाता है। स्याद्-वादी हो जाने से वह किसी एक साधन-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। सुतरां, संशय का तरङ्गों पर झटके खाता रहता है। यह अवस्था जब असह्य हो जाती है, तभी सुरथ मृगया अर्थात् अनुसन्धान में प्रवृत्त हो जाता है। मृगया—मृग्यते अन्विष्यते मृगादयो अन्वेषणीय-पदार्था यत्र सा)' यहाँ मृगया (अनुसन्धान) प्रकृत पूजाओं में सर्वश्रेष्ठ है—'नानुसन्धेः परा-पूजा' श्रुति। और अनुभूति का आधार है। यह किया जाता है अकेले (एकाकी) अर्थात् निःसङ्ग। इसका वाहक साधन है हय (घोड़ा)।

'हय' अनेकार्थ-वाची पद है। 'हय' नाम इन्द्र का भी है, जो समस्त देव-गण अर्थात् चैतन्य इन्द्रिय गण का राजा व प्रकाशक है। मन ही इन्द्रियों का प्रकाशक है। अतः यहाँ ज्ञान-योग-क्रम में 'हय' से मन

❀ 'कोल' पद को एक व्युत्पत्ति यह भी है—
कोल=कुल्, सञ्चये।

का ही तात्पर्य है। क्रिया-योग-क्रम में 'हय' है नाद-'ह्यति नादं शब्दं करोति।' इस भाव में 'हय' पर बैठकर यात्रा करनी है नादानुसन्धान करना। फिर भक्ति-योग-क्रम में 'हय' पर सवार होना है प्रार्थना करना--'हय पूजने।' पूजन प्रकृततः प्राण और मन दोनों की संवर्धन-प्रक्रिया है। फिर 'हय' नाम सूर्य-किरण का भी है। किरण के द्वारा ही सूर्य-मण्डल वा ज्ञान-मण्डल वा प्रकाश-मण्डल को जाया जाता है। यही है गहन वा दुर्गम वन। तन्त्रोक्त सर्व-श्रेष्ठ गहन वन है सहस्रार।

यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि सुरथ वृक्षों वा तृणों के वन में नहीं जाता है। वह जाता है वन अर्थात् ब्रह्म की खोज में—'तत् ह तद्-वनं नाम'—श्रुति। यथार्थतः ब्रह्म-वन के समान और कौन वन है? 'हय' सभी वनों के पार जा सकते हैं, पर ब्रह्म-वन का पार पाना असम्भव है।

वन जाने के दो तात्पर्य हैं। एक तो यह कि संसार से अलग होना और दूसरा यह कि अपनी ही बहिर्मुखी वृत्तियों से विमुख हो अन्तर्मुखी-मण्डल में जाना। प्रथम अर्थ के अनुसार यह भाव है कि विषय-त्यागी होकर निर्विषयी ब्रह्म के चिन्तनार्थ सिद्ध-गुरु के चरणाश्रित होने के लिए जाना। किन्तु दूसरे पक्ष में है कि सुरथ अपने मानस-मण्डल (तन्त्रोक्त मानस चक्र) से ऊपर बुद्धि (विमर्श) मण्डल को, जो तन्त्रों में गुरु-मण्डल कहा गया है, जाता है। वहीं गुरु का आश्रम है-'आश्रम्यते आसमन्तात् श्रम्यते श्रमं कुरुते यत्र स आश्रमः।' यहीं ठीक तरीके से साधन किया जा सकता है।

यही है मेधा-क्षेत्र, जिसकी रूपकोक्ति है मेधा ऋषि का आश्रम। यह कोई स्थान-विशेष नहीं, अवस्था-विशेष है। वैसे तो मेधा ज्ञान है, जिससे किसी पदार्थ की, विषय की प्राप्ति है पर यथार्थतः यहाँ मेधा से ब्रह्म-ज्ञान-प्रदायी मेधा का तात्पर्य है। शङ्कर ने अपने गीता-भाष्य में ऐसा ही कहा है—'मेधया आत्म-ज्ञान-संरक्षणया प्रज्ञया।' पाश्चात्य दर्शन में यह मेधा-क्षेत्र विशेष चेतना-क्षेत्र (सुपर कांशंस) कहा जाता है, जब सुरथ जीव को ऐन्द्रिय (प्राग्मेटिक) चेतना से परे अनिन्द्रिय (ट्रान्सेडेण्टल) चेतना होती है। इस क्षेत्र वा अवस्था-विशेष में आने से जीव के हिंसा-भाव सर्वथा लुप्त हो जाते हैं। इसी भाव की द्योतक है यह उक्ति—'प्रशान्त-श्वापदाकीर्ण।'

यहाँ सुरथ को शान्ति मिली वा मिलती है। मनन करते-करते उसको हठात् समाधि अर्थात् निवृत्ति-भाव का पता मिला। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सुरथ से प्रवृत्ति-मार्गारूढ़ का तात्पर्य है और उसी सुरथ अर्थात् सुसंस्कार-सम्पन्न जीव का अपर निवृत्ति-मार्गारूढ़ रूप है समाधि। यह उस अर्थ से बोध होता है, जिसमें समाधि की व्युत्पत्ति है—'समः सर्व-पर्यायः आधिः मनोव्यथा यस्यासौ समाधिः' अर्थात् सभी प्रकार की मनोव्यथाएँ जिसमें हों। सुरथ में मनोव्यथायें थीं, इस हेतु वह समाधि भी कहा जा सकता है। फिर इस व्युत्पत्ति* से 'समाधीयते पुरुषोपभोगाय सर्व इति समाधिः' से भी सुरथ और समाधि एक ही व्यक्ति हैं, ऐसा सिद्ध है, कारण पुरुष वा जीव के उपभोग के लिए पुरुषार्थ-चतुष्टय की साधन-शक्तियाँ मौजूद हैं। इस प्रकार सुरथ ही समाधि है और समाधि सुरथ है, ऐसा बोध होता है।

इसे समझाने के लिए आत्मा के रूपों का ज्ञान आवश्यक है। इन रूपों का निरूपण आत्म-निर्वचन सूत्र द्वारा छः प्रकार की प्रतिपत्तियों से किया गया है। इन छहों के नाम हैं—१ अवैकारिक रूढ़, २ वैकारिक रूढ़, ३ योग-रूढ़, ४ यौगिक-रूढ़, ५ यौगिक और ६ व्यूह। इसी सूत्र के अनुसार वेदादि शास्त्रों में एक आत्मा के सात, कहीं पाँच और कहीं तीन प्रकार के रूप कहे गये हैं। इनकी विशद विवेचना यहाँ असम्भव है। अतः यहाँ संक्षेप में विवेचना की जाती है, सो भी प्रकृत विषय सप्तशती-रहस्य के क्रम के अनुसार मात्र।

सप्तशती में केवल तीन ही रूपों वा अवस्थाओं का प्रतिपादन है। इन तीनों को (१) जीवात्मा वा भूतात्मा, (२) तैजस् आत्मा और (३) प्राज्ञ आत्मा

* शङ्कराचार्य की ऐसी ही व्युत्पत्ति है।

कह सकते हैं। प्रथम चरित में तमसावृत्त भूतात्मा की उत्पत्ति की क्रिया, द्वितीय में यही कैसे तैजस्-रूप में आत्मा कहलाती है और फिर किस प्रकार प्राज्ञ आत्मा बन जाती है, इसकी कथा है और तीसरे वा उत्तम चरित में यही कैसे प्राज्ञ से शुद्ध चिद् आत्मा के रूप में परिणत होती है अर्थात् सत्व-गुणी से गुणातीत हो जाती है, इसकी कथा है। इसी को क्रिया-योग-क्रम में खासकर कुण्डली-योग में क्रमशः ब्रह्म-ग्रन्थि-भेदन, विष्णु-ग्रन्थि-भेदन और रुद्र-ग्रन्थि-भेदन-प्रक्रिया-त्रय कहते हैं। भूतात्मा तमो-गुण-प्रधान होती हुई भी रजो-गुण और सत्व-गुण से रहित नहीं है। सभी अवस्थाओं में तीनों गुण रहते ही हैं। अन्यथा तमो-गुण-प्रधान जीव में रजो-गुण का आविर्भाव कहाँ से हो और रजोगुण-प्रधान जीव वा तैजसात्मा में सत्व-गुण कहाँ से आवे ? फिर रजोगुण तो तमो और सत्व दोनों गुणों के साथ-साथ अगर न रहे, तो न तमोगुण आवरण का कार्य करे और न सत्व-गुण प्रकाश का।

यही प्रकाश जब सुप्रतिष्ठित हो जाता है, तब लय हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा का क्या रूप होता है, यह कोई नहीं कह सकता। शास्त्रों ने इस अवस्था को अनाख्यावस्था कहा है। इस अवस्था-विशेष में सामान्य प्रज्ञा वा ज्ञान की क्या, कभी पातञ्जलोक्त ऋतम्भरा प्रज्ञा का भी लोप वा लय हो जाता है। कारण ज्ञान भी लाख सात्विकी होने पर भी जीव का बन्धन ही तो है। शिव-सूत्र—'ज्ञानं बन्धः' से भी यह सिद्ध है। (इस सूत्र के विशद ज्ञान के लिये शिव-सूत्र-कारिका और इसका वार्तिक द्रष्टव्य है।)

अस्तु, हम अगर सुरथ और समाधि को दो प्रकार के दो व्यक्ति मान लें, तो भी कोई आपत्ति नहीं। सुरथ प्रवृत्ति-मार्ग के पथिक और समाधि निवृत्ति-मार्ग के पथिक प्रतीत होते हैं। इसी से महामाया की साधना से सुरथ जीवन्मुक्त और समाधि विदेह-मुक्त होते हैं। अगर जीवन्मुक्ति मात्र की शिक्षक कथा रहती, तो शिक्षण अधूरा ही रहता। इसी से विदेह-मुक्ति की शिक्षण-कथा भी इसमें सन्निहित है।

शिक्षण में केवल सिद्धान्त की बात कही गयी है. विधि का उल्लेख नहीं है। विधि तो अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सद्-गुरु-मुख से ही ज्ञातव्य है। अगर हम यह कहें कि गुरु से क्यों सीखें, पुस्तक पढ़कर ही सीखें, तो क्या आपत्ति है, तो हमको यह समझना वा विचार करना चाहिये कि अगर पुस्तक मात्र से हम व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर सकते, तो शिक्षकों का स्थान ही जगत् में न रहता, यह हम अपरा-विद्याओं के शिक्षण से जान सकते हैं। फिर परा-विद्या का कहना ही क्या।

कथानकों की वर्णन-शैली इतनी सुन्दर है कि मेधा, सुरथ और समाधि को पृथक्-पृथक् मानें अथवा एकत्र-रूप का मानें, शिक्षण एक ही रहेगा। फिर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार किसी भी योग-क्रम से लाभ उठावें। तात्पर्य क्रिया-योगान्तर्गत कुण्डली-योग-क्रम से साधन करें वा ज्ञान-योग-क्रम से करें, अथवा उक्त योग-द्वय के संयुक्त रूप भक्ति-योग से करें, एक ही फल की प्राप्ति है। यह सप्त-शती उपनिषत् इसी से कहा जाता है। उपनिषत् का अर्थ है समीप ले जानेवाला अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान करानेवाला। इस सप्तशती के सिद्धान्त और सप्त-शती श्रीमद्भगवद्-गीता के सिद्धान्त एक ही हैं। इसी से इसका नित्य स्वाध्याय वा पाठ निर्दिष्ट है।

सुरथ और समाधि दोनों अथवा दोनों रूपों का एक ही व्यक्ति अर्थात् भोग और मोक्ष के इच्छुक अपने शरीरस्थ अन्तरात्मा गुरु के निकट अथवा पार्थिव सिद्ध-गुरु के निकट जाकर यह सीखते हैं कि सामान्य ज्ञान, जो जीव-मात्र में और विशेष कर मनुष्य-जीव में है, वह काम का नहीं। कारण केवल सैद्धान्तिक ज्ञान से फलाप्ति नहीं है। व्यावहा-रिक ज्ञान चाहिये। यथा हम 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूं, इसी से ब्रह्म नहीं हो जाते। ब्रह्म होने के लिए ज्ञान-योग-क्रम में इस ज्ञान का परि-पाचन चाहिये। क्रिया-योग की प्रक्रियाओं का यथा-क्रम साधन करना चाहिये और भक्ति-योग-क्रम में शास्त्र-निर्दिष्ट साधन की आवश्यकता है।

परन्तु किसी प्रकार के साधन करने से पूर्व संशय का नाश अर्थात् पूर्ण विश्वास की मूलावश्यकता है। अन्यथा साधन में प्रवृत्ति भी हो, तो यह प्रवृत्ति टिक नहीं सकती।

इसी से उक्ति है—'विश्वासः फल-दायकः' अर्थात् विश्वास से फलाप्ति होती है। परन्तु इतना समझना है कि फल-दायक जो विश्वास है, वह सत्य विश्वास है, न कि भ्रान्त विश्वास। फिर विश्वास मात्र कर लेने से ही फलाप्ति नहीं है। यथा ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास कर लेने से ही ईश्वर नहीं मिलता। फलाप्ति के निमित्त आश्रम वा परिश्रम की आवश्यकता है। इसी को साधन कहते हैं। इस अवस्था में विश्वास फल देनेवाला क्यों कहा गया है? इसलिये ऐसी उक्ति है कि विना विश्वास के किसी प्रकार का परिश्रम वा साधन हो ही नहीं सकता और विना साधन वा प्रयत्न से फलाप्ति नहीं है। सुतरां यह सिद्ध है कि फलाप्ति की आदि भूमिका विश्वास है।

यहाँ इतना उल्लेख आवश्यक है कि कोई भी शास्त्र विश्वास दिलाकर साधन-पथ पर हमको आरूढ़ नहीं करा सकता। विश्वास दिलाना है संशय-रहित करना। परन्तु जब सामञ्जस्य-विद्या नहीं जानते अर्थात् शास्त्रों के परस्पर-विरोधी निर्देशों का सामञ्जस्य करना नहीं जानते, तो हम और भी मोह में पड़ जाते हैं, जिससे हमारा विश्वास उठ जाता है। विश्वास का एकमात्र मूल है गुरु-वाक्। इसी से तन्त्र-शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि सभी शास्त्र विडम्बना देनेवाले हैं। मुक्ति देनेवाली तो एक गुरु-वाक् ही है—

मोक्षदा गुरु-वागेका सर्वे शास्त्रा विडम्बकाः।
(कुलार्णव)

इसके दो ज्वलन्त दृष्टान्त पर्याप्त हैं। एक स्वामी विवेकानन्द और दूसरा पाल-ब्रण्टन। पूर्व का उद्धार रामकृष्ण परमहंस देव से हुआ, तो दूसरे का महर्षि रमण ने किया। इसी तरह सभी सुरथों का उद्धार गुरु के द्वारा ही हुआ है, होता है और होता रहेगा। इसमें सर्व-प्रथम मृगया को आवश्यकता है। पाल-ब्रण्टन की पुस्तक 'सर्च इन सीक्रेट्स आफ इण्डिया' पढ़ने से निश्चित रूप से सिद्ध है कि जिज्ञासु को, विवेकानन्द जैसे भाग्यवान् जिज्ञासुओं के अतिरिक्त, कितनी लगन के साथ और कितने परिश्रम से मेधा-गुरु मिलते हैं।

अस्तु, मेधा-गुरु का जो उपदेश है रूपकोक्ति में, उसको स्वभावोक्ति में लाते हैं—

कल्पान्त होने पर अर्थात् जीव के पार्थिव वा विषय-चिन्तन के अन्त हो जाने पर विष्णु अर्थात् जीवात्मा योग-निद्रा में अभिभूत अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से निष्क्रिय हो जाता है। ('कल्प' शब्द का पुराणों में एक अर्थ में, तर्कशास्त्र में दूसरे अर्थ में, व्याकरण-शास्त्र में तीसरे अर्थ में और वेदान्त-दर्शन में इन तीनों से भिन्न एक चौथे अर्थ में प्रयोग है।) उसकी शय्या है शेष-नाग। यह नाग कोई पार्थिव नहीं है। यह है अचित् भाव की शेषावस्था और यदि शेष को अनन्त कहें, तो असीम भाव के तात्पर्य का बोध है, कारण इस अवस्था में, जिसको अपरिच्छिन्नावस्था कहते हैं, देश और काल का भी लय रहता है। इसी का नाम है एकार्णवावस्था। इस समय पृथ्वी अर्थात् पार्थिव अचित् भाव-जल अर्थात् रस (ब्रह्मानन्द-रस) में डूबा हुआ रहता है। इस समय विष्णु वा जीवात्मा के नाभि-कमल पर प्रजापति ब्रह्मा बैठे रहते हैं। इस प्रजापति ब्रह्मा से क्या बोध है, इसकी विवेचना आवश्यक है।

'प्रजापति' पद अनेकार्थ-वाचक है। इसका एक अर्थ है प्रजाओं वा सन्ततियों का स्वामी और दूसरा अर्थ है प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न हुआ जीव। यह प्रकृष्टत्व है स्वयंभुत्व। स्त्री-पुरुष के सम्पर्क से जो उत्पन्न होता है, वह स्वयम्भु नहीं है। सुतरां जो इस प्रक्रिया के अतिरिक्त उत्पन्न है, वही स्वयंभु है। ब्रह्मा स्वयंभु कहलाते हैं, कारण यह समष्टि मन हैं, जो व्यष्टि मन से अभिन्न हैं, जिस प्रकार विष्णु समष्टि-आत्मा भी हैं और व्यापकत्व के कारण व्यष्टि आत्मा भी। योगवासिष्ठी सिद्धान्त भी यही

है—'मन एव विरिञ्चत्वं'—उत्पत्ति-प्रकरण २।३४। इनकी जननी महामाया भगवती हैं। तात्पर्य कि महामाया की इच्छा-शक्ति का नाम ब्रह्मा है। (विष्णु और रुद्र के नामों से भगवती की ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति अभिहित हैं)।

ब्रह्मा की पर्याय-वाचक वैदिकी संज्ञा है आदि प्रजापति। स्थानाभाव के कारण यहाँ प्रजापति के सम्बन्ध में पूर्ण विचार असम्भव है। सुतरां, संक्षेप में इतना ही कहना है कि प्रजापति दो प्रकार के हैं—एक अनिरुक्त वा अनिर्वचनीय और दूसरे निरुक्त अर्थात् स्व-गत भेद-युक्त, वचनीय, परिच्छेद आदि लक्षणवाले। इन दोनों को क्रमशः अव्याकृत ❀ और व्याकृत ❀ रूपक कहते हैं। पहिला जड़ कूटस्थ है, वहाँ दूसरा व्यक्त रूप है। इसी का व्याकरण मिलता है अर्थात् इस निरुक्त की बनावट की बात वेदों में है।

वेद के अनुसार यह निरुक्त प्रजापति मन, प्राण और वाक के समुच्चय से त्रि-धातु का है। त्रि-धातुक होने से त्रि-पर्वा वा तीन भागवाला कहा जाता है। तीन भागवाले से यह तात्पर्य नहीं है कि एक शुद्ध मनवाला दूसरा केवल प्राणवाला और तीसरा वाक्वाला। प्रधानता के अनुसार तीन भाग (पर्व) कल्पित हैं। यथा मनः-प्रधान नाभि-मण्डल (मणिपुर चक्र) में है। इसको संज्ञा नभ्य प्रजापति है। तन्त्रों के अनुसार यह पश्यन्ती वाक् है। प्राण-प्रधान (प्राण-पर्वा) की वेदोक्त संज्ञा महिमा-प्रजापति और वाक्-प्रधान की संज्ञा मूर्त्ति-प्रजापति है। तन्त्रों में ये दोनों क्रमशः मध्यमा और वैखरी वाक् हैं। ये तीनों यथार्थतः एक ही हैं, पर व्यावहारिक दृष्टि से प्रधानता के आधार पर तीन कहे गये हैं।

यह विष्णु के नाभि-कमल पर बैठनेवाले मनः-प्रधान नाम प्रजापति हैं। समष्टि-रूप में समष्टि-मन और व्यष्टि-रूप में व्यष्टि-मन हैं। इन मन-रूपी ब्रह्मा से नाभि-प्रदेश में स्थित स्नायु-केन्द्र की शक्ति से विशेष-विशेष भावों का ज्ञान उपलब्ध होता है। यहाँ यह उल्लेख है कि ज्ञान केवल मस्तिष्क में नहीं होता है, अपितु विशिष्ट-विशिष्ट भावों के ज्ञान अन्य स्नायु-केन्द्रों में भी होते हैं। हमारे ऋषियों ने कहा है कि प्रथम ज्ञान वा आभास नभ्य मनः-शक्ति (ब्रह्मा) को होता है। हमारी यह मनः-शक्ति जितनी संवर्धित रहती है, उतना ही शुद्ध ज्ञान होता है। यह धारणा है। फिर हमारी धारणा जितनी विशुद्ध रहती है, उतना ही विशुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। हमारी धारणा किस तरह ठीक हो, यही यहाँ विवेच्य विषय है। तात्पर्य कि जनार्दन आत्मा को किस प्रकार विशुद्ध चेतना की प्राप्ति होती है, यही विषय यहाँ कहा जाता है।

आत्मा की ही एक गुणाधार संज्ञा है जनार्दन। इस पद का एक अर्थ है जन अर्थात् असुर का अर्दन वा दमन करनेवाला। इस अर्थ में जो आत्मा वा व्यक्ति अपने आसुरी भावों पर विजय पा गया है, वही प्रकृत 'जनार्दन' पद से वाच्य है। दूसरा अर्थ है जन अर्थात् जनन वा पुनर्जनन अर्थात् पुनर्जन्म का नाश कर लिया है जिसने। फिर संकल्प-विकल्प-राशि का जनन वा उत्पत्ति जिसने रोक ली है, वह भी 'जनार्दन' पद से वाच्य है। तात्पर्य कि जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त जीव भी 'जनार्दन' पद से वाच्य है।

इन सोये हुए जनार्दन के दोनों कानों के मल से मधु और कैटभ दो असुरों की उत्पत्ति होती है। यह उक्ति कुछ विशेष रहस्य-मयी भाषा में है। कर्ण से यहाँ कान का बोध नहीं, प्रत्युत कर्म का ही बोध है। इस कर्ण की व्युत्पत्ति औणादिक (उणादि) है

❀ अव्याकृत (अनिरुक्त) के बारे में यजुर्वेद की उक्ति है—प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर जायमानो बहुधा- विजायते तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा स्तस्मिन् हतस्थुर्भुवनानि विश्वा। (संहिता ३१।१९)

❀ व्याकृत (निरुक्त) के बारे में ऋग्वेद की उक्ति है—

प्रजापतिर्महामेतारदाणो विश्वैर्देवैः पितृभिः सम्विदानः। शिवाः सती रूपानो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया संसदेम॥ (संहिता १०।१)

'कृ + न'। (कर्ण + घञ्=कर्ण का अर्थ है कान।) यह कर्म-मल वा कार्मिक मल केवल ब्रह्मा और विष्णु में रहता है। तन्त्रशास्त्र का सिद्धान्त है कि मल पाँच प्रकार के हैं-

(१) आणव्य अर्थात् अणु-सम्बन्धी—यह जीव-मात्र में रहता है,

(२) कर्म वा कार्मण--जो ब्रह्मा और विष्णु में रहता है,

(३) मायिक--यह रुद्र-मात्र में है,

(४) प्राकृत—यह ईश्वर में है और-

(५) आहंकारिक (अहंकृति)—यह सदाशिव में भी रहता है।

एकमात्र पर-शिव ही है, जो पूर्ण निर्मल है—

आणव्यं जीव-मात्रं स्याद् ब्रह्म-विष्णोश्च कार्मणम्।
माया-मूलस्तु रुद्रस्य प्राकृतस्तु तथेश्वरे॥
सदाशिवस्याहंकारः पर-शम्भोर्न किञ्चन।
(शक्ति-सङ्गम, काली-खण्ड, २य पटल)

अस्तु, विष्णु का कर्ण-मल व कार्मण-मल है मधु और कैटभ। इन्हीं दोनों से मन-रूपी ब्रह्मा उद्वेलित होता है। अब मधु-कैटभ हैं क्या, यह देखना है। कर्म दो प्रकार का है—एक अच्छा और दूसरा बुरा। गीता की सुकृति और दुष्कृति यही है। कठ-भाष्य-कार के मत से मधु है इष्ट कर्म-फल—'मधुमिष्ट-कर्म-फलम्'। इस प्रकार यही सुकृति है। और कैटभ—'कीट-वद् भाति इति कीटभः, तद्भावः कैटभः' से दुष्कृति का बोध है। कारण कैटभ ग्रस्त जीव अर्थात् कैटभी भावापन्न जीव दूसरों को कीट-वत् अर्थात् तुच्छ मानता है। यह भाव द्वेष-मूलक है। अतः हम इन दोनों को राग-द्वेष भी कह सकते हैं। गीता की उक्ति—

बुद्धि-युक्तो जहातीह उभे सुकृति-दुष्कृते।

से मधु और कैटभ-रूपी राग और द्वेष को बुद्धि-रूपिणी महामाया की सहायता से मारना है।

प्रकारान्तर में मधु और कैटभ को हम आवरण और विक्षेप भी कह सकते हैं। ये ही संशय में डालने-वाले होते हैं। मन उद्वेलित होता है केवल संशय के कारण। यह संशय मुख्यतया दो प्रकार का है—एक प्रमाण-गत और दूसरा प्रमेय-गत। प्रमाण-गत संशय मुख्यतः शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमाण से सम्बन्ध रखता है। प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के अनुभूत विषयों के प्रमाण से क्वचित् सम्बन्ध है। विक्षेप ही इसका कारण है। इसी विक्षेप से हम प्रत्यक्ष दिखाई पड़नेवाली रस्सी को साँप समझ लेते हैं। यह हुई प्रत्यक्ष प्रमाण की बात। अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण में भी क्रमशः प्रत्यनुमान अर्थात् प्रतिकूल अनुमान और अनिश्चितत्व है। शब्द-प्रमाण के सम्बन्ध में हमारी अविद्या विशेषकर समन्वय-विद्या का अभाव प्रधान है। अब रहा दूसरे प्रकार का संशय—प्रमेय-गत संशय। प्रमेय है वह विषय वा पदार्थ, जिसके ज्ञान की इच्छा हममें होती है। यह संशय तीन प्रकार का है -

(१) आत्म-विषयक अर्थात् मैं कौन हूँ, क्या हूँ इत्यादि,

(२) ईश्वर-विषयक अर्थात ईश्वर है कि नहीं, अगर है, तो कहाँ है इत्यादि और—

(३) परमात्म-विषयक अर्थात् परमात्मा क्या है, उसका रूप है कि नहीं, इत्यादि।

इन तीनों के अन्तर्गत परमार्थ-विषयक सभी बातें हैं।

अब, इन दोनों प्रकार के संशयों का उन्मूलन किस तरह होता है, यह देखना है। इस उन्मूलन का यह नियम है कि आदि में जब प्रमाण-गत संशय हट जाता है, तभी प्रमेय-गत संशय नष्ट होता है। यह प्रमाण-गत संशय नष्ट होता है सद्गुरु की उपलब्धि मात्र से। तात्पर्य कि कौन सिद्धान्त किसके लिये एवं किस अवस्था में प्रामाण्य है, यह केवल सिद्ध गुरु ही कह सकता है। फिर अनुमान भी गुरु के द्वारा ही निश्चित होता है कि कौन अनुमान प्रत्यनुमान से खण्डित नहीं है और कौन सा खंडित है। और जब प्रमाण-गत संशय गुरु की कृपा से नष्ट होता है, तभी प्रमाण-साधन के द्वारा, जो गुरु-निर्दिष्ट है, प्रमेय-गत संशय का नाश होता है।

यह आत्म-शक्ति कैसे जगती है ? यह जग उठती है स्तवन-क्रिया से। अब यह स्तवन-प्रक्रिया यथार्थतः है क्या यह देखना है। साधारणतया स्तवन से हम गुण-कीर्तन मात्र समझते हैं। देव-ऋषि आदि के गुण-कीर्तन-रूप-स्तव का पाठ एक बार व सौ बार कर लेने से ही यह प्रक्रिया सम्पूर्ण नहीं होती है। इसकी दृढ़ धारणा की आवश्यकता है। और फिर धारणा के अनुसार कर्म करने से ही यह प्रक्रिया सम्पूर्ण होकर फल-प्रद होती है। यथा हम जब 'उस' का यह गुणगान करते हैं कि 'तू सर्व-साक्षिणी है', तो हमारी यह धारणा बनती नहीं है। अगर बनती, तो उसके भय से, संकोच से कोई भी बुरा काम न करते। वह सर्व-व्यापिनी है, ऐसा यदि समझते, तो वह मन्दिर में वा मसजिद में ही रहती है, ऐसा न मानते। अगर हमारी यह धारणा कि वह मुझमें भी है, दृढ़ रहती व इस पर विश्वास रहता, तो हम अपने को निःसहाय समझकर सहायक के पीछे दौड़-धूप न करते। पर नहीं, हम गुण का कीर्तन मुख से कर लेते हैं, पर हृदय में अपनी स्तवोक्ति पर जरा सा भी विश्वास नहीं रखते। इसी से फल से वञ्चित रह जाते हैं।

इस विश्वास के अतिरिक्त एक और वस्तु है, जिसके बिना फलाप्ति असम्भव है। जिस प्रकार मन्त्रार्थ का ज्ञान मात्र फलदायक नहीं है, वैसे ही मां का गुण-ज्ञान वा गुण का विश्वास फल-दायक नहीं है। जिस प्रकार मन्त्र-चैतन्य से ही फलाप्ति है वैसे ही स्तव वा प्राथना सिद्ध हो, इसके लिये किस पद्धति से स्तव किया जाय, इसका निर्देश शास्त्रों में है। यह पद्धति ठीक गायत्री मन्त्र के समान है। तात्पर्य कि जो कुछ गायत्री मन्त्र की सिद्धि के लिये निर्दिष्ट है, वही प्रक्रिया सभी मन्त्रों के लिये और सभी स्तवों के लिए लागू है।

गायत्री मन्त्र की सिद्धि अथवा सभी मन्त्रों की सिद्धि होती है व्याहृति के अनुसार प्रक्रिया करने से। ये व्याहृतियाँ, जिनकी संख्या सात है, सप्त-चक्रों के अनुसार, प्रक्रिया करने की विधि-स्वरूप हैं। यहाँ संक्षेप में इसका उल्लेख किया जाता है। विशद ज्ञान के लिये हमारा 'गायत्री-तत्व-विमर्श' द्रष्टव्य है। ये सातों व्याहृतियाँ भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् मन्त्र नहीं हैं, जैसा हम झते हैं। तो फिर क्या हैं ? ये हैं प्रक्रिया करने अर्थात् मन्त्र-जप करने की विधियाँ।

जो भूःलोक अर्थात् मूलाधार-चक्र वा पृथ्वी-चक्र में स्थित हो गायत्री-प्रार्थना मन्त्र का जप करे, वह केवल एक प्रथम व्याहृति भूः सयुक्त कर जप करे। इसी प्रकार जिसकी जितनी योग्यता है, वह वहाँ तक के चक्र की प्रतीक व्याहृतियों को संयुक्त कर जप करे। यह नियम अर्थात् एक वा दो व्याहृति का संयोग करना सुरथ के अतिरिक्त पूर्णतया नव-सिखुओं के लिये है। पर जो सुरथ हैं, वे तीन व्याहृतियों के आधार पर जप कर अपने को तैजस् भाव में ले जाते हैं। इसीलिये हमारी गायत्री व्याहृति-त्रय से संयुक्त है।

व्याहृति-त्रय के संयोग से तात्पर्य है कि भूः चक्र से प्राण-शक्ति (कुण्डली) को उठाकर स्वः चक्र अर्थात् मणिपुर-चक्र पर अवस्थित करे और तब गायत्री का जप करे। तभी गायत्री-जप की सार्थकता है। कारण जब तक एक भी ग्रन्थि अर्थात् प्रथम ग्रन्थि—ब्रह्म-ग्रन्थि का भेदन नही होता, तब तक गायत्री में फल-दायक चेतनता नहीं आती है। इसी त्रुटि के कारण हम कहते हैं कि इतना जप किया वा इतनी आवृत्ति सप्तशती का पाठ किया, पर फल नहीं मिला। तभी हमारा मन्त्र पर, स्तव पर, विश्वास उठ जाता है और हम साधन से निरस्त हो जाते हैं।

अब, प्राण-शक्ति को जगावें कैसे और जगाकर उठावें कैसे ? यह लेखन का विषय नहीं है। यह प्रक्रिया गुरु से ही सीखी जाती है। इसी हेतु सप्तशती में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं है। पर सुरथ और समाधि, जो गुरु मेधस् से देवी-माहात्म्य सुनकर साधन करने को गये, इस उक्ति में गुरु से व्यावहारिक साधन-प्रक्रिया भी सीखकर गये, ऐसा समझना है। उनकी सिद्धि से यही बोध है कि उन्होंने सैद्धान्तिक ज्ञान तो सीखा ही, साथ-साथ

व्यावहारिक शिक्षा भी लो। अन्यथा सिद्धि कैसे हुई ? केवल सैद्धान्तिक ज्ञान से यह असम्भव है। अगर केवल सैद्धान्तिक ज्ञान वा पौस्तिकी ज्ञान से सिद्धि होती, तो हम सभी ने मां का दर्शन और वर सप्तशती-माहात्म्य को पढ़कर पा लिया होता।

अस्तु, ब्रह्मा वा नभ्य मन स्तव करता है। हम जन-साधारण स्तव किसे कहते हैं, यह भी नहीं जानते। भ्रान्त धारणा के कारण हम जोर-जोर से यजमानों को वा दूसरों को सुनाने के लिये अथवा अपने भ्रान्त मन को बुझाने के लिये स्तव पाठ करते हैं। क्यों ? कारण हम स्तव की परिभाषा ही नहीं जानते। इसकी तान्त्रिकी परिभाषा हम नहीं कहेंगे, कारण साधारण-जन भ्रान्ति-वश तन्त्र को एक हौआ समझ कर इसके नाम से ही दूर भागते हैं। अतः हम यहाँ वेद की कही परिभाषा कहते हैं।

भावनोपनिषद् श्रुति कहती है-

नाद के द्वारा तादात्म्य (एकता) का चिन्तन ही स्तवन है-

परा-पश्यन्त्यादि-निखिल-शब्दानां नाद-द्वारा ब्रह्मण्युप-संहार-चिन्तनेन स्तोत्रम्।

इसी सिद्धान्त पर मण्डल ब्राह्मण श्रुति केवल दो शब्दों में कहती है कि स्तुति है मौनावस्था— 'मौनं स्तुतिः।' परन्तु मौन से न बोलने मात्र का तात्पर्य नहीं है। चुप होकर दुनिया भर की बातें सोचें, तो यह प्रकृत मौन नहीं कहा जा सकता। यह तो जिह्वा-मौन है। प्रकृत मौन है मानसिक मौन अर्थात् मन का निग्रह। (इसके विशद ज्ञान के लिये योगवासिष्ठ, निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध का ६८ वां सर्ग द्रष्टव्य है)। इसी मौनावस्था में स्तवन करने से फलाप्ति है। इतना ही नहीं, स्तवन वा चिन्तन तब तक करना है, जब तक ज्ञान का परिपाचन पूरी तरह से न हो।) जिस तरह हम किसी वृक्ष की शाखा को पकड़ किसी तरफ खींचकर रखे रहते हैं परन्तु छोड़ते ही वह शाखा पूर्ववत् अपने स्थान पर चली जाती है, उसी प्रकार हम जब तक स्तवन करते हैं, तब तक हो सकता है कि हमारी धारणा ठीक रहे, पर ज्यों हो स्तवन-प्रक्रिया बन्द हुई कि धारणा का रूप बदल गया। इसलिये शास्त्रों का निर्देश है कि मनन की धारा निरन्तर बहती रहे। कब तक ? जब तक यह पूरी-पूरी हृदय में घर न कर ले। इससे क्या होगा ? अस्वत्वापादकावरण और अभानापादकावरण नष्ट होंगे। अवशेष रहेगी बाधिकानुवृत्ति, जो विक्षेप जन्य है। यह आगे का विषय है। अतः आगे अपने स्थान पर विचार होगा।

ब्रह्मा की स्तुति यह है अर्थात् हमारी स्तुति ऐसी होनी चाहिये-

वह विश्व की स्वामिनी है। अर्थात् वृहद् विश्व और क्षुद्र विश्व में काम करनेवाले सभी की स्वामिनी है अर्थात् इसी एक के इच्छानुसार सभी छोटे-बड़े कार्य होते हैं। फिर जगत् अर्थात् परिवर्तन-शील पदार्थ और वृत्तियों की धात्री अर्थात् पोषण करनेवाली, रखनेवाली और लय करनेवाली यही है। यह विष्णु अर्थात् प्राण-पुरुष की अतुला (जिसकी तुलना नहीं है) शक्ति है। यही निद्रा भगवती है अर्थात् सर्वैश्वर्य-शालिनी, सबका तिरस्कार करनेवाली, स्वतन्त्रता—एक-मात्र स्वतन्त्रा सर्वश्रेष्ठा सत्ता है। ('निद्रा'-पद उणादि से साधित 'णिद्+इङ्' इसका अर्थ है सर्वश्रेष्ठा।) यही स्वाहा अर्थात् सभी की अहं-कृति की नाशक है। 'स्व+आहा= स्वाहा'। यही स्वधा है अर्थात् अहं-कृति को पोषण-कर्त्री है। तात्पर्य कि यही महा-आसुरी-रूप में अहन्ता की धात्री है और महा-देवी वा महा-विद्या के रूप में पराहन्ता की धात्री है। (ब्रह्म-रूप हो जाने पर जो अहन्ता भाव है, उसको पराहन्ता कहते हैं।)

यही वषट्कार ❋ है अर्थात् विश्व के सभी पदार्थों का छै अदृष्ट पृष्ठ भी है यद्वा 'वषट्'-पद

❋ 'वषट्' वौषट् का रूपान्तर पद है। वौषट् है वौक्+षट्। विश्व के सभी पदार्थ वेद के अनुसार मन, प्राण और वाक् इन तीनों के त्रिवृत्तिकरण से बने रहते हैं। वस्तु के केन्द्र से बाहर हो

को 'वह' धातु से बना मान लेने पर सभी वस्तु को वहन-शक्ति यही है, ऐसा बोध है । यही स्वरात्मिका है अर्थात् सभी शब्दों का मूल है, कारण कोई भी व्यञ्जन स्वर के बिना नहीं बन सकता । यही चूँकि स्वर की तीन मात्रायें हैं, इन तीनों की शक्ति है। त्रि-मात्रा है, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। इन्हीं तीनों मात्राओं में सभी शब्द बोले जाते हैं। प्रकारान्तर में प्रणव की तीनों मात्राओं से अकार, उकार और अर्ध मकार का बोध है। यही अर्ध-मात्रा अर्थात् चन्द्र-विन्दु भी है, जिसका उच्चारण बहुत ही विशेष रूप से है।

अनुच्चार्या के स्थान पर अनुच्चार्या का पाठ युक्त है कारण अनुच्चार्या का अर्थ है, जिसका उच्चारण न हो। पर हम देखते हैं कि सभी शुद्ध रूप से वा अशुद्ध रूप से प्रणव की अर्ध-मात्रा वा कोई भी बीज-मन्त्र की अर्ध-मात्रा का उच्चारण करते ही हैं। फिर यह अर्ध-मात्रा अन् + उच्चार्या कैसे है ? फिर यदि यह अर्ध-मात्रा यथार्थतः उच्चारण के योग्य नहीं, तो इसका रूप ही नहीं बनता। किसी शब्द व मात्रा का रूप व्यर्थ नहीं बना है। विशेषतः ऐसी महत्वशाली मात्रा का, जो नाद और विन्दु की द्योतक है। जब कि नाद महत् वा महतामहीयान् (बड़े-से-बड़ा) और विन्दु अणोरणीयान् अर्थात् छोटे-से-छोटे का प्रतीक है। (इसी हेतु सभी बीजों में नाद-विन्दु सन्निहित हैं) तब विशेषतः उच्चारण जो कहा गया है, वा विभिन्न उच्चारण का निदश करनेवाला है। तात्पर्य कि सभी सामवेदी, यजुर्वेदी, ऋग्वेदी और अथर्ववेदी एक ही प्रकार का उच्चारण नहीं कर सकते। कारण एक वेद-मन्त्र में, जैसा इसका उच्चारण करने से फल है, वैसा दूसरे वेद-मन्त्र में उसी प्रकार के उच्चारण से फल नहीं है। इसलिये श्रुति प्रणवोपनिषत् कहती है कि सामवेद में ह्रस्वोदात्त, यजुर्वेद में दीर्घ-प्लुतोदात्त, ऋग्वेद में त्रैस्वर्योदात्त और अथर्ववेद में अनुदात्तोदात्त उच्चारण कर्तव्य है। (हम यही नहीं जानते, इसलिये अशुद्ध उच्चारण से फल नहीं मिलता।)

वही वह है अर्थात् जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। सावित्री भी वही है अर्थात् सविता शक्ति है। वही देवी वा प्रकाश-शक्ति वा लीला करनेवाली वा दान करनेवाली वा व्यवहार-कुशला है। वही 'जननी परा' अर्थात् आदि कारण है। वही सृजन-कर्त्री' पालन वा स्थिति-कर्त्री और लय-कर्त्री है।

एक वही अच्छा और बुरा दोनों ❀ है। यथा वही महाविद्या अर्थात् महा-विज्ञान भी है तो महा अविद्या अर्थात् महा अज्ञान भी है (महामाया का अर्थ यहाँ पूर्णतः परिच्छिन्न करनेवाली—ढँक देनेवाली लिया गया है।) वही सर्व-श्रेष्ठा मेधा-शक्ति अर्थात् सब समझनेवाली और महा-स्मृति अर्थात् सब स्मरण रखनेवाली है, तो वही महामोहा अर्थात् कुछ भी न समझनेवाली और न स्मरण रखनेवाली शक्ति है। वही महादेवी अर्थात् महा-चिति शक्ति और महा आसुरी अर्थात् महा अचिति शक्ति है। वही सबकी त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। तात्पर्य कि अपनी इच्छा के अनुसार सबको कभी तमोगुण-प्रधान तो कभी रजोगुण-प्रधान और कभी सत्व-गुण-प्रधान बनाती रहती है।

वही काल-रात्रि, महा-रात्रि, मोह-रात्रि और दारुण-रात्रि है। शास्त्रों ने रात्रि को निष्क्रियावस्था कहा है। रात्रि समय-बोधक नहीं, अवस्था-बोधक पद है। इस वा इन अवस्थाओं को ले आनेवाली

इसकी ऋक्-शक्ति दो प्रकार के पृष्ठ—एक अन्तः-पृष्ठ जो स्थूल, दृश्य और स्थानावरोधक है और दूसरा वहिः-पृष्ठ जो सूक्ष्म, अदृश्य और स्थान-रहित है, बनाती है। इस पृष्ठ को स्तोम वा तह कहते हैं। आधुनिक रसायन शास्त्र के 'कम्पाउण्ड' को हम अन्तः-पृष्ठ कह सकते हैं।

❀ श्रुति का यही सिद्धान्त है। अथर्वशीर्ष श्रुति की उक्ति है—वेदोहमवेदोहम्, विद्याहमविद्याहम् इत्यादि। फिर तन्त्र भी यही कहते हैं। 'विरुद्ध-वाक्यार्थ-शरीर-मण्डला' इत्यादि। देखिये इसकी व्याख्या अस्मदीय 'श्री तारा-स्वरूप-तत्व' में।

शक्ति को रात्रि-शक्ति कहते हैं, जिसकी आलोचना वैदिक रात्रि-सूक्त में है। इस स्तुति को भी स्मार्त्त रात्रि-सूक्त कहते हैं कारण इस चरित की नायिका योग-निद्रा भगवती हैं। अस्तु, काल-रात्रि प्रधान मानी जाती है। काल समय-बोधक नहीं है। यह हं क्रिया-बोधक। जिस अवस्था में सभी क्रियायें बन्द हों अर्थात् प्राण निष्क्रिय हों, वह काल-रात्रि है। ऐसी अवस्था ले आनेवाली वही है।

महा-रात्रि से ब्रह्मा अर्थात् मन की निष्क्रियावस्था का बोध है। सुतरां मन की निष्क्रियावस्था ले आनेवाली वही है। मोह-रात्रि से विष्णु अर्थात् ज्ञान-शक्ति की अवरुद्धावस्था का तात्पर्य है। रही दारुणा रात्रि, जिसका अर्थ है महा-भयानक रात्रि। इस अवस्था में सब कुछ निष्क्रिय रहता है। तात्पर्य कि जब इच्छा, ज्ञान और क्रियायें तीनों बन्द रहें, तो इसी अवस्था को दारुण रात्रि कहते हैं।

वही श्रीः अर्थात् विज्ञान-शक्ति 'लक्षयति इति लक्ष्मीः श्रीः'। वही ईश्वरी है अर्थात् हमारी स्वामिनी, अतएव आराध्या है। ह्रीः भी वही अर्थात् अकरणीय न करानेवाली लज्जा वा संकोच-भाव। वही 'बोध-लक्षणा बुद्धि' है अर्थात् यथार्थ ज्ञान करानेवाली बुद्धि है, न कि मिथ्या वा विपर्यय ज्ञान करानेवाली। वही लज्जा है अर्थात् पश्चात्ताप है 'अकरणीय-कृते पर-ज्ञान-शंकया दुःखम्'। पुष्टि अर्थात् उपचय शक्ति और तुष्टि अर्थात् सन्तोष-शक्ति भी वही है। वही शान्ति शक्ति है अर्थात् उसी एक की शरण में जाने से प्रकृत सम्पत्ति शान्ति मिलती है। वही क्षान्ति है अर्थात् तितीक्षा (सहिष्णुता) शक्ति है। तात्पर्य कि उसकी प्रसन्नता अर्थात् निकट आ जाने पर यह तितीक्षा-शक्ति हममें बढ़ती है, जिससे कठोर-से-कठोर विपदाओं के आघात का असर नहीं होता अर्थात् हम किसी भी दुःख से दुःखी नहीं होते।

उसके आयुध अर्थात् दुःख-निवृत्ति के साधन हैं खड्ग अर्थात् बहिर्मुखी वृत्तियों को खण्ड-खण्ड (टुकड़े-टुकड़े) करनेवाला ज्ञान। (गीता भी खड्ग का यही अर्थ करती है—'तस्मादज्ञान-संभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वैनं संशयं...' ४।३७)।

शूल (त्रिशूल) अर्थात् अज्ञान का अन्तःस्थल तक विदारक (फाड़नेवाला)।

गदा अर्थात् विषय-भावों को चूर्ण-विचूर्ण करनेवाला।

शङ्ख*—अर्थात् नाद-द्वारा विशिष्ट आसुरी सर्गों का नाशक यद्वा दैवी सर्गों का उत्पादक।

चक्र अर्थात् चक्राकार काम करनेवाली शक्ति (इसको आधुनिक विज्ञान-शब्द में रेडियो-एक्टिविटी कह सकते हैं), जो अनात्माकार वृत्तियों को काट गिराती है। इस चक्र-शक्ति से अनेक कार्य होते हैं।

चाप अर्थात् धनुष से बाँस के धनुष का बोध नहीं है। यह वह आध्यात्मिक धनुष है, जिस पर महास्त्र प्रणव-रूपी शर से ब्रह्म-रूपी लक्ष्य का भेदन होता है—'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासनिशितं सन्दधीत। आयम्य तद्-भाव-गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षर सौम्य विद्धि।'—मुण्ड० २।२।३। यह धनुष क्रिया-योग में भी कहा गया है। फिर इस व्युत्पत्ति—'चपस्य वंश-भेदस्य विकारश्चापः' से चप वा वंश अर्थात् कुल के भेद से अर्थात् कुल-चक्रों के भेदन से जो चाप वा धनुष बनता है, उससे तात्पर्य है। क्रिया-योग-क्रम में बाण 'बणनं बाणः बण-शब्दे' से शब्द वा नाद का बोध है, जो अविद्या का नाश करता है। जब यह ब्रह्म-लक्ष्य का भेद करता है।

भुशुण्डी 'भुवः शुण्डे (शुण गमने) च दीर्घत्वात् भुशुण्डी' अर्थात् पार्थिव विषयों से ऊपर परमार्थ क्षेत्र में जानेवाली शक्ति यद्वा भौतिक विषयों का शोषण करनेवाला आयुध।

और परिघ 'परितो हन्यते अनेनेति परिघः' अर्थात् सब तरफ से वा सब प्रकार से शत्रु (अज्ञान) का नाश करनेवाला।

---

* 'शङ्ख' पद अनेकार्थ-वाचक है। भिन्न-भिन्न उत्पत्तियों के आधार पर—(१) शंखनति जनयति इति शंखः, (२) शम उपशमे शाम्यत्यलक्ष्मीमिति शंखः अर्थात् अलक्ष्मी अर्थात् दरिद्रता-रूपी अज्ञान का शमन करनेवाला, इत्यादि।

वह केवल सौम्य-मूर्ति ही नहीं वरन् सौम्य-तरा एवं अशेष सौम्य से भी अधिक सुन्दरी है। तात्पर्य कि सबसे बढ़कर सौम्य सुन्दरी है, उससे अधिक कोई है ही नहीं। अब यहाँ यह देखना है कि यह विश्व-सुन्दरी किसको और किस प्रकार अर्थात् किस अवस्था में कहा गया है। महामाया दुर्गा के असंख्य गुणों के आधार पर असंख्य मूर्त्तियों की कल्पनायें हैं। इनमें तीन रूप ही प्रधान हैं—

(१) महाकाली, (२) महालक्ष्मी और (३) महा-सरस्वती।

इस प्रथम चरित की नायिका है भगवती महाकाली, जिनकी स्तुति की गयी है। यह दश-शीर्ष, दश-भुजा और दश-पादवाली हैं। इनका रङ्ग भी घोर काला है। सुतरां इनकी आकृति बड़ी ही भयंकर है। फिर यह परमा-से-परमा सुन्दरी कैसे कही जा सकती हैं? अगर किसी के यहाँ इस रङ्ग-रूप की लड़की का जन्म हो, तो वह आह्लादित होगा या डर से उसको हृत्कम्प होने लगेगा! मगर जो रूप-तत्त्व का ज्ञानी है वा जो कल्पना-राज्य का अधीश्वर—प्रकृत कवि है, वह जिस प्रकार समुद्र के भीषण गर्जन, उच्चतम जल-प्रपात के घोर-नाद, राकेश-रहित निशीथ में श्मशान की नीरवता इत्यादि में, जो जन-साधारण में हृत्-कम्प उत्पन्न करते हैं, प्रकृत सुन्दरता को देख प्रकृति के कार्य-कलाप की कुशलता की भावना कर आनन्द-विभोर हो उठता है, उसी प्रकार 'चित्ते कृपा समर-निष्ठुरा' स्थूल-दृष्टया महा-भयावह किन्तु सूक्ष्म-दृष्टया महा-सुन्दरी भगवती महाकाली के रूप को सुन्दर—अति सुन्दर अवश्य कहेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

अस्तु, और क्या मनन करते हैं? वह परापर लोगों अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन त्रि-महादेवों की भी ईश्वरी वा स्वामिनी है। इतना ही नहीं, वह जहाँ 'आत्मा' के उद्धार के महा-चैतन्य-त्रय की स्वामिनी है, वहाँ वह आत्मा के विनाश के असुर-राट्-त्रय रूप काम, क्रोध और लोभ की भी स्वामिनी अर्थात् सञ्चालन-कर्त्री है। इसी से उक्ति है कि सत् और असत् दोनों की जो शक्ति है, वह इसी की है। इस अवस्था में वह अचिन्त्य हो जाती है। फिर उसकी स्तुति क्या और कैसे हो? अपिच जो जगत् (व्यष्टि और समष्टि दोनों) का स्रष्टा, पालक और लय करनेवाला है, वही जब उसकी योग-निद्रा-वश निष्क्रिय हो रहा है, जिससे उसकी अप्रमेय शक्ति का आभास मिलता है, तो ऐसी अप्रमेय शक्ति की पूर्ण स्तुति असम्भव है। फिर ब्रह्मा, विष्णु और ईशान की जननी अर्थात् कारण है और हम तीनों कार्य हैं। सुतरां कार्य के द्वारा कारण की स्तुति पूर्णतया नहीं हो सकती है। तो भी काम की बात तो कहनी ही है। काम की बात वा प्रार्थना यह है कि मधु और कैटभ को मोह वा वश में लाओ, जगत्-स्वामी विष्णु वा आत्मा का उद्बोधन करो, जिससे इन दोनों से रक्षा हो।

इस प्रकार के पर्याप्त मनन वा चिन्तन से क्या होता है? इससे आत्मा का उद्बोधन होता है और मन के संकल्प-विकल्पात्मक कार्यों का नाश होता है। इस भाव की द्योतक है सप्तशती की यह उक्ति कि 'अव्यक्त-जन्मा ब्रह्मा की आँखों पर विष्णु के नेत्र, नासिका, बाहु, हृदय आदि को छोड़ योग-निद्रा जा बैठी।' यही वेदान्त के शब्दों में मनोनाश कहा गया है। महामाया की इस प्रक्रिया का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण फल यह है कि प्राण-क्रिया के मुख्य पाँच स्थान नेत्र, नासिका, बाहु, हृदय और उर (फेफड़ा) निष्क्रियता से निर्मुक्त हो जाते हैं। तभी प्राण-संवर्धन क्रियायें सम्पादित हो सकती हैं।

अस्तु, मनन-प्रक्रिया के पूरी हो जाने पर निदिध्यास (साधन) प्रक्रिया आरम्भ होती है। संशय के नाश के पश्चात् अर्थात् कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान हो जाने पर ही साधन-पथ निश्चित होता है। जब तक संशय है, विश्वास हो नहीं सकता और विश्वास के बिना कर्म-प्रवृत्ति नहीं। विश्वास दिलानेवाला सद्गुरु है। अकृतोपासक अर्थात् जिन्होंने उपासना का एक अङ्ग भी पूरा नहीं किया है, उनके लिये बाह्य भौतिक गुरु हैं। पर जो पर्याप्त उपासना

कर चके हैं, उनका गुरु वा पथ-प्रदर्शक उनकी अन्तरात्मा ही होती है। अन्तरात्म-गुरु का निर्देश व्यक्त नहीं है। इसको मूकादेश कहते हैं। (आंग्ल भाषा में इसको 'इन्टूयूशन' कहते हैं।) ब्रह्मा वा नभ्य-मन का गुरु यही अन्तरात्मा होती है। ऐसा ही व्यक्ति गायत्री महामन्त्र का साधन कर सकता है।

अब नभ्य-मनवाले साधक का संशय दूर हो जाता है। वह यह विश्वास करता है कि महामाया भगवती दुर्गा उसके कोश वा दुर्ग में भी रहती है, जो गान अर्थात् सम्पादन (एक अर्थ में) करती है, जिससे इसी की एक संज्ञा गायत्री है, जो नाद-रूप गान (दूसरे अर्थ में) करती हुई जीव की रक्षा करती है अर्थात् उसे शरीर में रखे रहती है। परन्तु इतनी ही धारणा से अभीष्ट-सिद्धि नहीं होती। धारणा के आधार पर प्रयोजनीय क्रिया करने की भी आवश्यकता है। तभी प्रकृत ध्यान हो सकेगा, जिसकी पुष्टि से समाधि वा लय होगा। धारणा के दृढ़ हो जाने पर भी अर्थात् सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करने पर भी दार्शनिक शब्दों में ज्ञान का परिपाचन आवश्यक है। इसी परिपाचन-क्रिया को निदिध्यास कहते हैं, जो भिन्न-भिन्न साधन-क्रम में भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से अभिहित है। अपरिपाचित ज्ञान फलदायक नहीं है। भक्ति-योग का यह ज्ञान कि सब कुछ परमेश्वर का है, सुतरां हम भी उसी के हैं, जब तक मौखिक मात्र रहता है, तब तक फलदायक नहीं होता। फलदायक होता है तब, जब हम इस ज्ञान के अनुसार सब काम करते हैं। कर्म-योग में भी जब हम उसी के लिये सब काम करते हैं, तब फल मिलता है। ज्ञान-योग में भी यही बात है। 'सोऽहम्' कह देने से ही हम ब्रह्म नहीं हो जाते। इस सिद्धान्त पर व्यावहारिक क्रिया-सम्पादन करने से ही ब्रह्मत्व प्राप्त करते हैं। इसमें अभ्यास की आवश्यकता है। अभ्यास करना ही निदिध्यास है।

जीवात्मा को सिद्धि का मन्त्र मिल गया है। अब यह जनार्दन जल से एकार्णवा पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी-तत्त्वात्मक मूलाधार-चक्र से ऊपर जल-तत्त्वात्मक स्वाधिष्ठान-चक्र पर प्राण-पुरुष अपनी कुण्डलाकार शक्ति को ले जाता है। यहाँ ऊपर उठने के लिये वह ब्रह्म-ग्रन्थि को अभ्यास द्वारा भेदन करता है। इस जनार्दन को ज्ञात हो गया है (पर्याप्त मनन के द्वारा) कि मैं ही भगवान् अर्थात् षडैश्वर्य-सम्पन्न हूँ, मैं ही हरि हूँ अर्थात् त्रि-ताप का हरने-वाला वा दूर करनेवाला हूँ? मैं ही विभु वा प्रभु हूँ अर्थात् अपना स्वामी हूँ। तात्पर्य कि मैं ही अपना भाग्य-विधाता हूँ एवं अपना मित्र भी हूँ। और शत्रु भी हूँ। तात्पर्य कि ज्ञानी हो मित्र और अज्ञानी हो शत्रु हूँ। और मैं ही बाहु अर्थात् प्रति-रोध शक्ति बाध + उणादि धकारो हकारे परि-वर्तितः' से प्रहरण अर्थात् निवारक हूं। तात्पर्य कि मुझमें ही वह शक्ति है, जिससे अपने शत्रुओं को पराजित कर सकता हूँ।

अब इसी धारणा के आधार पर पाँच सहस्र वर्ष बाहु-युद्ध करता है। बाहु-युद्ध एक से वा दोनों से एक ही समय वा पारा-पारी दोनों से? फिर पाँच ही हजार वर्ष क्यों, इससे कम वा अधिक क्यों नहीं? इस रहस्य को समझने के लिये इसकी कुञ्जी चाहिये। अन्यथा यह उक्ति प्रलाप हो जाती है। इस कुञ्जी के, जिसकी आवश्यकता सभी प्रकार के साधनों में है, विशेषकर तान्त्रिक साधनों में, खो जाने से अथवा गुप्त हो जाने से बुद्धि-वादी वेदों की, तन्त्रों की, पुराणों की मखौल करते हैं और शास्त्र-प्रमाण (शब्द-प्रमाण) वादी ऊपर की तह तक ही रह जाते हैं, जिससे वे कल्पोक्त फल से वञ्चित रहते हैं। अस्तु, यह बाहु-युद्ध कुश्ती की हाथा-पाई नहीं है। हाथा-पाई दो से नहीं, एक से ही होती है। फिर जब इनके पास चक्र था ही, तो चक्र को फेंक इन दोनों मधु-कैटभ के सिर क्यों नहीं काट डाले, यह शंका यहाँ स्वतः उत्पन्न होती है।

सुतरां बाहु-युद्ध से, जैसा पूर्व कह आये हैं, प्रति-रोध-शक्ति के अभ्यास का तात्पर्य है। यह प्रतिरोध-शक्ति है मनः-प्रतिरोध शक्ति और प्राण-प्रतिरोध शक्ति। अगर एक ही मन का अथवा प्राण का प्रतिरोध कहा जाय, तो अयुक्त होगा। कारण

मन और प्राण का अविना-भाव-सम्बन्ध है। दोनों के विरोध की आवश्यकता है। केवल प्राण अर्थात् श्वास-प्रक्रिया और पञ्चेन्द्रिय (वेदों में इन्द्रियों को भी प्राण कहा गया है) के निरोध से मन का निरोध नहीं होता और केवल मन के निरोध से प्राणों का निरोध नहीं होता, जिससे प्राण बलवान नहीं होते। इसी सिद्धान्त के आधार पर श्रुति कहती है कि आत्मा वा आत्म ज्ञान बल-हीन का लभ्य नहीं है—'नायमात्मा बल-हीनेन लभ्यः।' तात्पर्य कि केवल तर्क से, प्रवचन से वा मनन मात्र से आत्म-ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती—'नैषा तर्केण मतिरापनेया। नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।—कठ'

अब रही पाँच हजार वर्ष की बात। यहाँ 'वर्ष'-पद से एक विशिष्ट समय की अवधि का तात्पर्य नहीं है। 'वृ आवरणे + स उणादि' इस व्युत्पत्ति से वर्ष-पद का अर्थ है आवरण। आवरण एक मत से पाँच प्रकार का होता है। प्रकारान्तर में वर्ष को कोष भी कह सकते हैं। पञ्च-तन्मात्रायें भी आवरण हैं। फिर हमारी तन्मात्राओं के विकार सहस्रशः हैं। इन हजारों तन्मात्राओं के आवरण तब तक दूर नहीं होते, जब तक युद्ध अर्थात् समर 'समं राति ददाति इति समरः' होता रहता है। पञ्च-तन्मात्राओं को विशुद्ध करने में किस-किस प्रक्रिया की आवश्यकता है अर्थात् क्या क्या करना पड़ता है, इसका उल्लेख नहीं है क्योंकि इन प्रक्रियाओं की शिक्षा लिखी नहीं जा सकती। प्रत्यक्ष रूप से सिखलाई ही जा सकती है जिस प्रकार रसायन-शास्त्र और भूत-विज्ञान की व्यावहारिक शिक्षायें हैं। इसी सिद्धान्त पर शास्त्रोक्ति है—

पुस्तके लिखिता विद्या येन सुन्दरि जप्यते।
सिद्धिर्न जायते तस्य कल्प-कोटि-शतैरपि॥

प्रारंभिक साधन के पूर्ण होने पर जीवात्मा वा भूतात्मा की अन्तः-शक्ति की पर्याप्त संवर्धना से दोनों प्रारम्भिक आसुरी भाव मोहित हो जाते हैं। तात्पर्य कि आसुरी भाव-द्वय अत्यन्त दुर्बल हो जाते हैं। यही सम्मोहनी विद्या श्री-क्रम में सर्व-संक्षोभिणी मुद्रा के नाम से अभिहित है। इसी से त्रैलोक्य-मोहन नाम के प्रथम आवरण का भेदन होता है। आवरण-भेदन तान्त्रिकी पूजन का लक्ष्य है।

यहाँ यह किञ्चित् अप्रासंगिक होने पर भी उल्लेख्य है कि तन्त्रों में मोहन, वशीकरण, उच्चाटन इत्यादि षट्-कर्मों को हम स्थूल दृष्टि वाले अभिचार कर्म कहते हैं। इसी धारणा से अन्य धर्मावलम्बी गण तन्त्र को काला जादू और तान्त्रिकों को काला जादूगर कहकर घृणा-दृष्टि से देखते हैं। परन्तु यह उनकी भ्रान्त धारणा है। प्रयोग वा विद्या का दुरुपयोग एक बात है और विद्या कुविद्या हो, यह दूसरी बात है। दुष्प्रयोग के कारण विद्या निन्दनीय नहीं हो सकती। निकृष्ट प्रयोग करनेवाले अज्ञानी स्वार्थी इत्यादि भ्रष्ट साधक ही होते हैं। अणु-शक्ति के प्रयोग-कर्त्ता यदि स्वार्थान्ध हो, स्वार्थी हो—दो शब्दों में नर-पिशाच हो महा-मारिक क्रिया करें, तो क्या हम आणविक विद्या को बुरा कहेंगे कि प्रयोग करने-करानेवालों को? हम पूरे अज्ञानी हैं। इसी हेतु अपने यथार्थ शत्रु को नहीं पहचानते। इसी से बाह्य शत्रुओं पर षट्-विद्या का प्रयोग करते हैं। जो ज्ञानी हैं, वे अपने शरीरस्थ षट्-रिपुओं पर ही प्रयोग करते हैं। ऐसी ही भ्रान्ति बगला महाविद्या के बारे में है।

अस्तु, पूर्ण संक्षोभित हो ये दोनों वर माँगने को नहीं कहते, प्रत्युत स्वयं वर को याचना करते हैं। हम भी अतिशय क्षोभित हो जीने की इच्छा नहीं करते। त्रैलोक्य-विजयी रावण ने भी आखिर यही चाहा था। मरण का वरण करके ही जगदम्बा सीता का अपहरण किया। रावण की उक्ति—

'कहिया मरण राम कर हयत।
माया-पाप काय छुटि जयत॥

—मिथिला रामायण, चन्द्र कवि कृत।'

ऐसा ही आन्तरिक उद्देश्य असुर कंस का भी था। मधु-कैटभ वर देना चाहते हैं वा यों कहें कि वर माँगते हैं केशव से। इस केशव-पद का प्रयोग रहस्य-मय है। यह अपना एक विशिष्ट महत्त्व

रखता है । केशव 'के ब्रह्मणि + शवः लोनः ।' (इसको एकाधिक व्युत्पत्तियों के अनुसार अनेक अर्थ हैं ।) केशवत्व अर्थात् प्राथमिक ब्रह्मानन्दावस्था की प्राप्ति करने पर ही जीवात्मा केशव कहा जा सकता है ।

मधु-कैटभ की माँग भी रहस्य-मय होने के कारण विवेच्य है। माँगते हैं ये कि जहाँ पृथ्वी हो, वहाँ हमारी मृत्यु हो । उनकी उक्ति में का 'सलिल' पद सार-गर्भ है । यहाँ सलिल से जल का बोध नहीं, चञ्चलता का बोध है 'षल+हल च उणादि' । इस उक्ति का अन्तस्तात्पर्य है कि जल-तत्वात्मक स्वाधिष्ठान चक्र से ऊपर नभ्य केन्द्र वा मणिपुर-चक्र में जब मन—सुतरां प्राण भी चञ्चलता से रहित हो।

अस्तु, मधु और कैटभ मारा जाता है जघन पर । अब जघन से जंघे का तात्पर्य नहीं है । यह 'जघन'-पद अनेकार्थ-वाचक है । खैर, ऋषियों ने जो कहा है, उसी अर्थ में हमको लेना है । उनका कहना है कि जघन नाम प्रयाग का है । 'प्रयागं जघन-स्थान-मुपस्थमृषयो विदुः ।' फिर प्रयाग से प्रयाग नगर का बोध नहीं है। एकार्णवा में भौतिक प्रयाग नगर का नामोनिशान भी नहीं था । प्रयाग का अर्थ है कि जहाँ प्रकृष्ट रूप का याग वा यज्ञ हो । यज्ञ तो अनेक प्रकार के हैं । इनमें प्रकृष्ट वा सर्व-श्रेष्ठ कौन सा यज्ञ है, यह देखना है । ज्ञान-योगी ज्ञान-यज्ञ को सर्व-श्रेष्ठ कहते हैं और क्रिया-योगी प्राण-यज्ञ को । ब्रह्माग्नि में प्राणों की आहुतियाँ देकर प्राण-यज्ञ होता है । यहाँ तक कहा गया है कि अन्य प्रकार के होम वा याग नाम मात्र के अर्थात् यथा-कथित हैं—

न होम होम इत्याहु समाधौ तत्तु भूयते ।
ब्रह्माग्नौ हूयते प्राणं होम कर्म तदुच्यते ॥

गीता के शब्दों में यह प्राण-रूप ब्रह्म में प्राणों का हवन है—'प्राणान् प्राणेषु जुहवति' । अब प्रयाग है कहाँ ? यह है त्रिवेणी-स्थल अर्थात् गङ्गा, यमुना और अन्तर्वाहिनी सरस्वती का संगम-स्थल । ये दोनों वा तीनों हमारी इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ हैं । इन्हीं दोनों गङ्गा और यमुना में बारी-बारी प्राण-वायु बहता है और तभी प्राणों की चञ्चलता है । यह चञ्चलता तभी जाती है, जब प्राण-वायु सुषुम्ना में आ जाता है। इसी का नाम प्रयाग-वास है।

इसी स्थान पर अर्थात् इसी अवस्था में चक्र अर्थात् चक्राकार सुन्दर ज्ञान यद्वा प्रक्रिया से इन दोनों का सिर काटा जाता है। क्रिया-योग-क्रम में चक्र से प्रकाश-शील 'रेडियो एक्टीविटी' का बोध है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विश्व-चक्र 'कास्मिक रेडियो एक्टीविटी' के सदृश. ही पिण्ड-चक्र 'माई कास्मिक रेडियो एक्टीविटी' काम कर सकती है। परन्तु यह तभी सम्भव है, जब अणु-शक्ति की सञ्चालन-विधि जानें । पूर्व के सिद्ध योगी इस विद्या को जानते थे। तभी अपनी अणु-शक्ति से वे लोगों को जिलाते और भस्म करते थे।

अवशेष में इतना ही कहना है कि हम सप्तशती में के प्रथम चरित का पाठ कर समझ लेते हैं कि मधु-कैटभ का नाश हो गया । पर नहीं, हमारे मधु-कैटभ तो जीते-जागते हमारे मन-रूपी ब्रह्मा को ग्रसने को तैयार हैं, जिससे हमारी यह दयनीय दशा है। क्या ऐसा ही नहीं कहा गया है रावण-वध पर । उक्ति राधेश्याम है—

मुनि बोले जग को अभी,
मिला नहीं विश्राम ।
अभी हुआ ही है कहाँ,
रावण का वध राम ॥
माया का सागर चहुँ दिशि है,
उसमें शरीर यह लंका है ।
अभिमान का रावण बैठा है,
जो बजा रहा निज डंका है ॥
है स्वार्थ का इसमें मेघनाद,
आलस है कुम्भकरण भगवान् ।

इसी प्रार्थना को दुहराते हुए हम माँ महामाया से प्रार्थना करें कि हमारे भी मधु-कैटभ का वध करवाओ, जिससे हम संशय-रहित हो शाक्त हों ।

महिषासुर वध-रहस्य

महर्षि मार्कण्डेय अपने शिष्य मुनि क्रोष्ट को ऋषि मेधस् का शिक्षण अर्थात् द्वितीय साधन-सोपान बतलाते हैं। किस ढङ्ग का यह शिक्षण है, यह आदि में ही कहा गया है। कथा यह है—

पूर्व-काल में पूरे एक सौ वर्ष तक पुरन्दर ने स्व-अधीनस्थ देव-गण सहित महिष-संज्ञक महासुर से युद्ध किया। यह देवासुर-संग्राम* के नाम से अभिहित है। इस युद्ध में देव-गण पराजित हुये और महिष इन्द्र के पद को छीनकर उनके सिंहासन पर बैठ गया। पराजित होकर देव-गण पद्म-योनि प्रजापति के नेतृत्व में वहाँ गये, जहाँ ईश (शिव) और गरुड़-ध्वज (विष्णु) थे। वहाँ जाकर उन दोनों को अपनी पराभव-गाथा सुनाई और महिष द्वारा सूर्य, इन्द्र, अग्नि, अनिल, इन्द्र, यम, वरुण और अन्य देवताओं को पद-च्युत कर इनके पदों पर स्वाधिष्ठान कर लेने तथा स्वर्ग से निकाले जाने से पृथ्वी पर मर्त्यों के समान भटकने की बात भी कही। अन्त में यह भी कहा कि 'हम अब आप दोनों के शरणागत हैं। उस अमरारि के वध का उपाय करें।'

---

* छान्दोग्य-भाष्य में देवासुर-संग्राम के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि देव कौन, असुर कौन और यह संग्राम क्या है—'देवा दीव्यते द्योतिनार्थस्य शास्त्रोद्भासित इन्द्रिय-वृत्तयः, असुरास्तिद् विपरीताः संग्राम कृत्वन्तः। शास्त्रीय-प्रकाश-वृत्त्यभिभावनाय प्रवृत्ताः स्वाभाविक्यस्तमो रूपा इन्द्रिय-वृत्तयोऽसुरः। तथा तद्-विपरीताः शास्त्रार्थ-विषय विवेक-ज्योतिरात्मानो देवाः स्वाभाविक तमोरूपा सुरभि-भवनाय प्रवृत्ताः इत्यन्योऽन्याभिभवोद् रूपः संग्राम इव सर्व-प्राणिषु प्रति-देहं देवासुर-संग्रामोऽनादि-काल प्रवृत्त इत्यभिप्रायः।'

इसका रहस्यार्थ यह है कि पुरा वा पूर्व-काल अर्थात् विष्णु-ग्रन्थि वा राजस् वृत्तियों के नाश से पूर्व पुरन्दर 'पुरं चक्र दारयतीति पुरन्दरः' अर्थात् ब्रह्म-ग्रन्थि का भेदन करनेवाले साधक ने स्व-अधीनस्थ देवताओं अर्थात् चेतनाओं की सहायता से महिष से पूरे सौ वर्षों तक का युद्ध किया।

'सौ वर्ष' पद एकाधिक अर्थ-वाचक है। प्रचलित अर्थ में मानव-जीवन की अवधि का, जो सौ वर्ष की है, 'शतायुर्मानवः स्मृतः', बोधक है। तात्पर्य कि सारे जीवन युद्ध होता रहता है। शंकराचार्य ने अपने छान्दोग्य भाष्य में कहा है कि प्रत्येक मानव-प्राणी के शरीर में यह देवासुर-संग्राम होता आया है, होता रहता है और होता रहेगा। फिर 'वर्ष' नाम से आवरण-अर्थ में सौ से दशों इन्द्रियों के दस × दस = सौ अवान्तर भेद-प्रभेदों का बोध है। यह संग्राम वा संघर्ष है चैतन्य वृत्तियों का परिच्छिन्न-कारक वृत्तियों से। चैतन्य वृत्तियों का नेता पुरन्दर (इन्द्र) है और चेतनाओं को ढँकनेवाला है रजोगुण-समुद्भव क्रोध-गुण-प्रधान महासुर महिष। राजस वृत्तियों में श्रेष्ठ होने से इसका नाम पड़ा महिष अर्थात् पूजनीय 'मह + हिषच् उणादि।' फिर यह गुण प्रधान संज्ञा भी है। महिष वा भैंसे में क्रोध-गुण प्रधान है। यह रूपक की स्वभावोक्ति है।

अस्तु, पुरन्दर वा एक पुर वा ग्रन्थि का भेदन करनेवाला तैजसात्मा राजसी आसुरी सर्गों से पराजित होकर पद्म-योनि प्रजापति अर्थात् नभ्य मन की सलाह से कहाँ जाता है? वह जाता है वहाँ, जहाँ ज्ञान-शक्ति और क्रिया शक्ति-द्योतक विष्णु और शिव का सम्मिलित क्षेत्र है। आदि में केवल इच्छा-शक्ति वा मनन-शक्ति से संशयोत्पादक आसुरी सर्ग मधु-कैटभ से रक्षा हुई। अब सज्ञान-शक्ति क्रिया-शक्ति की आवश्यकता है। इसके बिना काम नहीं

चलता। प्रकारान्तर में ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रथम सोपान है मन्त्र-योग का और द्वितीय वा मध्यम है हठ-योग का। हठ नाम है शिव-शक्ति-मिलन का। क्रिया-योग क्रम की भाषा में इसको सूर्य-शक्ति और चन्द्र-शक्ति का योग कहते हैं। यही है तन्त्र-प्रतिपादित वीर-भाव की साधना। पशु-भाव-प्रधान प्रथम साधन है और तृतीय सोपान है राजस योग का वा तन्त्रोक्त दिव्य-भाव का, जिसकी चर्चा होगी उत्तम चरित की रहस्य-विवेचना में।

क्रोध के कारण पुरन्दर की मुख्य सप्त-चेतना-धिष्ठात्री शक्तियाँ भी पराजित हुईं अर्थात् आवृत हुईं, इसकी विवेचना भी करनी है। सप्त वा सात की संख्या भी विवेच्य है। वेदों में अग्नि अर्थात् चेतन प्राण की सात जिह्वायें कही गयी हैं। ये सात चेतनायें हैं। इन्हीं के द्योतक सूर्य, इन्द्र, अग्नि, अनिल, इन्दु, यम और वरुण हैं। इन सातों के परिचय से पूर्व यह उल्लेखनीय है कि महिष के इन्द्रत्व-लाभ की बात दो बार क्यों कही जाती है। आदि ही में महिष इन्द्र हो गया, ऐसा लिखा है (देखिये २य अध्याय का २य मन्त्र)। फिर छठें मन्त्र में सप्त देवताओं में द्वितीय नाम इन्द्र का आता है। इसका कारण यह है कि प्रथम-बार इन्द्र का अर्थ है चेतनाओं का स्वामी 'इन्दतीति इन्द्रः' और दूसरे 'इन्द्र'-पद के प्रयोग से सब दिशाओं के स्वामीत्व का बोध है।

यहाँ यह समझना है कि दिशा-पद से पूर्व-दक्षिण आदि चारों दिशाओं (प्रकारान्तर में दशों दिशाओं) का तात्पर्य नहीं है। ये पूर्वादि दिशायें स्थान-निर्णयार्थ इस गोलाकार भू-मण्डल में कल्पित हैं। वस्तुतः दिक्-धर्म है प्रत्येक वस्तु का। यह ऋग्वेद-प्रतिपादित ऋक्-शक्ति-जनित है। यदि यह धर्म न रहे, तो हमको वस्तु का अनुभव हो न हो। इसी धर्म-विशेष को शृङ्खला-धारक (पावर आफ कानफिगरेशन) कहते हैं। महिष ने इस धर्म को भी शक्ति-हीन बनाया इन्द्र का पद-च्युत कर। अब उक्त सातों चेतनाओं के द्योतक उक्त सूर्य, इन्द्र आदि का परिचय ऐसा है—

(१) सूर्य एक चैतन्य प्रकाश-शक्ति रखनेवाला है। सूर्य एक गुणाधार संज्ञा है। यह सरण अर्थात् चलनेवाला है, इसलिये यह सूर्य कहलाता है। इसकी प्रकाशात्मिका शक्ति विस्मय-कारक गति से चलती है। 'फिजिक्स' विज्ञान में इसकी गति प्रति सेकेण्ड प्रायः ८६,००० मील की कही जाती है। यह तो हुई वैज्ञानिक क्रम की बात।

दार्शनिक क्रम में सूर्य का अर्थ है प्रेरणा करने-वाला—'सुवति प्रेरयति इति सूर्यः' अर्थात् बुद्धि वा विवेक-शक्ति। व्यष्टि में, जिससे हमारा प्रधान उद्देश्य है, सूर्य से प्राण का बोध है। प्राण जब असुर से आवृत्त हो जाता है अर्थात् उसके वश में आ जाता है, तो प्राण-धारा में बड़ा ही व्यतिक्रम आ जाता है। तात्पर्य कि आसुरी भाव में बहने लगता है। फिर सूर्य ग्रह-राज कहा जाता है। जब ग्रह-राज में व्यतिक्रम आ जाता है, तो सुतरां अन्य ग्रहों में भी गड़बड़ी आ जाती है। ग्रह का अर्थ है जो ग्रहण करे। ग्रहण करनेवाले हैं प्राण और मन। इन दोनों पर बुरा असर कब पड़ता है? जब ये दोनों दूषित हो जाते हैं। और ये ही दोनों जब दैवी प्रकाश से उद्भासित रहते हैं, तो किसी भी कारण से इन पर बुरा असर नहीं पड़ता, जिससे इनकी आत्म-धारा ठीक रहती है। इस प्रकार सूर्य पर महिष ने अधिकार जमा लिया, इससे बोध है कि प्राण और मन कलुषित हो गये।

(२) इन्द्र दिक्-शक्ति की अधिष्ठात्री देवता है। यह जब महिष के वश में हो जाता है, तो यह समझना चाहिये कि स्वरूप का नाश हो गया।

(३) अग्नि-'अंगति विवेचनं करोतीति अग्नि'—अर्थात् विवेक की चेतनता। यह वैगुण्य वा विधर्म को दग्ध करता है। इस हेतु इस दाहक-शक्ति-शील पदार्थ को अग्नि कहते हैं। यह मल को जलानेवाली शक्ति अपना कर्त्तव्य भी करती है, जब अपने स्व-रूप में रहती है। अन्यथा पर-तन्त्र होने पर विप-रीत ही करती है अर्थात् आत्माकार वृत्ति को ही जला देती है। यह तो हुई दार्शनिक वा ज्ञान-काण्ड

की बात। क्रिया-योग वा कर्मकाण्ड-क्रम में मलों से रक्षा करनेवाली प्राण-शक्ति को ही यह जलाती है, जिससे मलों की वृद्धि होती है और जीव पतन-गर्त्त में फँसता जाता है।

(४) अनिल—'अन्+इलट्, अनन्ति श्वसन्ति अनेन इति अनिलः'—इससे उस शक्ति का बोध है, जिससे श्वास-प्रश्वास की क्रिया सम्पादित होती है। इस शक्ति के दो कर्त्तव्य हैं—एक ग्रहण और दूसरा निःक्षेपण। इसकी अधिष्ठात्री जब तक देवता है, तब तक इससे वाञ्छनीय का ग्रहण और अवाञ्छनीय का निःक्षेप होता रहता है। पर महिष के वशीभूत हो जाने पर ठीक विपरीत क्रिया होती है।

(५) इन्दु से स्निग्ध-कारक पदार्थ का बोध है। इसी की वैदिकी संज्ञा सोम है, जो जीवन वा प्राण के जनन-पोषण पदार्थ-त्रय में से एक है। विज्ञान कहता है कि प्रकाश, उष्णता और स्निग्धता—'लाइट, हीट और माश्चर' से ही जीव की उत्पत्ति और स्थिरता है। इन्हीं तीनों के द्योतक सूर्य, अग्नि और चन्द्र हैं, जो जगदम्बा के नेत्र कहे जाते हैं। इसी इन्दु-शक्ति से हमारे प्राण और मन स्निग्ध रहते हैं। महिष के वश में आने से इसमें प्रकृति-विपर्यय आता है, जिससे हमारे मन और प्राण उत्तप्त हो जाते हैं और हम कर्तव्य-पथ से च्युत होकर अकर्तव्य करने लगते हैं।

(६) यम—'यमयति यामयति इति यमः' से यम देवता का, जो जीव के आयु-शेष होने पर शरीर से प्राण का विच्छेद करनेवाले हैं, तात्पर्य नहीं है। ऐसा समझना भ्रान्ति है। यह तो प्राणों को संगठित करनेवाला है। इसी यम-शक्ति से प्राण-शृंखला बँधी रहती है। ज्ञान-योग-क्रम में इससे बुद्धि-सत्ता का बोध है, जो मन का यमन वा आयमन करता है। घनीकरण का यह अर्थ प्राणायाम के अर्थ से सिद्ध है। फिर योग-शास्त्र के यम और नियम पदों से भी इसी अर्थ का स्पष्ट बोध है। सुतरां यम के महिष के अधीन हो जाने से जीव की यमन-क्रिया में व्यतिक्रम आ जाता है। तात्पर्य प्राण और मन घनीभूत नहीं होते।

(७) वरुण—'व्रियते वृणोति वा इति वरुणः' से दो शक्तिमान् का बोध है—एक आवरण-कारक, दूसरा विवेचना (विवेक) कारक। इसकी सत्ता सदसद्-विवेचना भी करती है, जब अपने स्वरूप में रहती है। महिष के अधीनस्थ होकर सत्य का आवरण अर्थात् सत्य को हमसे छिपाती है। कारण यह बुद्धि में व्यतिक्रम ले आती है।

इन सातों का संक्षिप्त परिचय यह है कि ये सातों प्राण हैं। इन्हीं सातों के अवान्तर भेद से उनचास प्राण होते हैं, जिनको उनचास मरुद्-गण कहते हैं। (अकार से लेकर हकार पर्यन्त उनचास अक्षर इन्हीं उनचासों प्राण-वायुओं के सञ्जक हैं। तात्पर्य कि एक-एक वर्ण एक एक निर्धारित विशिष्ट प्राण-वायु की गति-शक्ति से व्यक्त व उच्चारित होते हैं।)

आदि में ब्रह्म अर्थात् मनः-शक्ति ने कार्य-साधन कर लिया। अब इस मध्यमावस्था में ज्ञान-शक्ति के सहयोग से क्रिया-शक्ति से ही काम चलता है। यही तात्पर्य है इस उक्ति का कि ब्रह्मा को अगुवा बनाकर देव-गण महादेव और विष्णु के शरणापन्न हुए। ईश और गरुड़-ध्वज, जिनका पूर्ण परिचय यहाँ नहीं दे सकते, एक जगह तो रहते नहीं, जैसा पुराणों का कहना है। फिर इन दोनों की सम्मिलित उपस्थिति विचारणीय है। साधनारंभ में ब्रह्म-ग्रन्थि-भेदन हुआ है। अब विष्णु-ग्रन्थि-भेदन का साधन हो रहा है, जिसमें प्राण-शक्ति कुण्डली मणिपुर और अनाहत नाम के दोनों चक्रों में यह काम करती है। विष्णु अर्थात् ज्ञान-शक्ति का स्थान अनाहत वा हृदय है। यह ईश अर्थात् क्रिया-शक्ति का भी स्थान है।

ज्ञान और शक्ति का अविना-भाव का सम्बन्ध है। तात्पर्य कि जहाँ ज्ञान, वहीं सत्ता वा शक्ति और जहाँ शक्ति, वहीं ज्ञान। इसी से शास्त्रों में इन दोनों शक्तियों के मूर्ति-स्वरूप-द्वय विष्णु और शिव में पूर्ण अभेद कहा गया है। फिर शक्ति तो हर

जगह है। मन के साथ भी शक्ति काम करती है। इसीलिये कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों एक हैं–'एकमूर्त्तिस्त्रयो देवा रुद्रो-विष्णु-पितामहाः।' इसका यह कारण है कि एक ही के और एक ही में ये त्रि-शक्तियाँ रहती हैं। किसी से कोई श्रेष्ठ नहीं। हाँ, अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी प्रधानता है। इन दोनों की शरण में जाना है ज्ञान-पुरस्सर क्रिया वा क्रिया-योग के पथ पर आरूढ़ होना। इसी को निदिध्यास कहते हैं, जो मनन-प्रक्रिया के पश्चात् ही प्रारम्भ होता है।

इस माध्यमिक साधन को हठ-योग-साधन कहते हैं। यही हठ-योग है क्रिया-योग। तन्त्र में यह वीर-साधन कहा गया है। इसके पूर्ण होने पर राज योग का साधन है, जिसको ज्ञान-योग कहते हैं। यही तन्त्र में दिव्य साधन कहा जाता है। यह उत्तम वा तृतीय चरित का विषय है, जिसकी चर्चा तृतीय खण्ड में होगी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राथमिक मन्त्र-योग वा भक्ति-योग, माध्यमिक क्रिया-योग वा हठ-योग और साधनान्तिक ज्ञान-योग वा राज-योग भिन्न-भिन्न नहीं हैं, एक ही योग की विशिष्ट कक्षायें हैं और परस्पर-सम्बद्ध हैं। तात्पर्य कि मनन वा मन्त्र-साधन की आवश्यकता का कभी अन्त नहीं होता अर्थात् माध्यमिक और आन्तमिक साधन-द्वय में भी इसका साधन चलता रहता है। इसी प्रकार क्रिया-योग भी मनन-योग में और ज्ञान-योग में आवश्यक है। फिर अन्तिम-योग–राज-योग वा ज्ञान-योग शेष दोनों योग-साधनों में आवश्यक है। कारण बिना ज्ञान के न मनन है और न क्रिया-योग-साधन ही सम्भव है।

इस माध्यमिक साधन का आश्रय वा आधार है हठ-योग। इसलिये इस हठ-योग के सम्बन्ध में कुछ कहना युक्त है। साधारणतया हम लोग हठ-योग से नेती, धौती आदि शरीर-संशोधन क्रिया ही समझते हैं। साथ ही हठ-पूर्वक वायु-निरोध-प्रक्रिया को हठ-योग कहते हैं। परन्तु यह हमारी भ्रान्त धारणा है। नेती, धौती आदि, जो नाड़ी-संशोधनार्थ क्रियायें हैं, योगांग हैं, योग नहीं। ये योग के अंग इसलिये हैं कि इनसे शारीरिक स्वास्थ्य बना रहता है, जिससे योग-साधन में कोई रुकावट नहीं आती। तब रहा बल-पूर्वक वायु-निरोध वा प्राणायाम। यह भी एक भ्रान्ति है। बल वा हठ-पूर्वक वायु के निरोध से बुरा फल होता है। इससे स्वास्थ्य बिगड़ता ही है, बनता नहीं। तात्पर्य कि अँगुलियों से नासा-पुटों को दबाकर प्राणायाम करने से शरीर रोग-ग्रस्त हो जाता है। इससे दिमाग भी खराब होता है। इसी हेतु शास्त्रों में कहा गया है कि यह बहिः प्राणायाम जो अंगुली और अँगुष्ठ से किया जाता है अनुचित होने से त्याज्य है—

बाल-बुद्धिभिरंगुल्यंगुष्ठाभ्यां
नासिका-छिद्र ह्यवरुध्य।
यः प्राणायामः क्रियते,
स खलु शिष्टैस्त्याज्यः॥
(ऋग्वेद-भाष्य)

श्रुति भी कहती है कि वायु-तत्त्व हाथी, बाघ आदि उन्मत्त जानवरों से भी अधिक उन्मत्त है। जब ये जानवर बल-पूर्वक वश में नहीं किये जा सकते, तो फिर वायु कैसे हो? इन जानवरों जैसे वायु को बहुत शनैः शनैः वश में करना है। इस कौशल का नाम है योग—'योगः कर्मसु कौशलम्' गीता। यह है एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला, जो पुस्तकों से सीखी नहीं जा सकती, केवल योग-कुशल सद्-गुरु से ही जानी जा सकती और उन्हीं के संनिरीक्षण में सम्पादित हो सकती है।

हठ-योग की विवेचना से पूर्व तन्त्रोक्त माध्यमिक साधन का उल्लेख अयुक्त नहीं है। तन्त्र भी योग की तरह 'कर्मसु कौशल' अर्थात् कला-बोधक पद है। जिस प्रकार किसी एक स्थान पर पहुँचने के असंख्य पथ होते हैं, उसी प्रकार किसी एक कार्य-साधन के लिये असंख्य कलायें हैं। जिसकी जैसी योग्यता एवं रुचि होती है, वह उसी तरीके की साधन-कला के माध्यम से वह काम करता है। शास्त्रों का कहना है कि हठ-योग है शिव और शक्ति का योग वा मेल। यह जहाँ हठ-योग शास्त्र

में चन्द्र (बांयी) और सूर्य (दाहिनी) नाड़ियों का मिलन बतलाता है जिससे प्राण-वायु सुषुम्ना में जाकर स्थिर हो जाता है वहाँ तन्त्रों में का हठ-योग अपनी एक विशेषता रखता है। फल एक ही है, प्रक्रिया भी मिलती-जुलती है है, पर यह अपने ढङ्ग की निराली। परन्तु खेद यही है कि इसके निराले ढङ्ग को लोग समझ नहीं पाते। इसी हेतु यथा-कथित तान्त्रिक गण केवल खुद ही गिरकर हास्या-स्पद बनते हैं। साथ ही शास्त्र को, मार्ग को भी कलंकित करते हैं।

स्पष्टतया कहते हैं कि हठ-योग वा शिव-शक्ति-योग की जो तान्त्रिकी पद्धति है, उसको परापरा पूजा कहते हैं। इसमें पञ्च-मकार का प्रयोग है। पञ्च-मकार—विशेषतः प्रथम मकार अर्थात् मद्य ग्रहण करने की योग्यता कितनी कठिनता से होती है, यह लोग न समझते ही हैं और न समझने की कोशिश ही करते हैं। सच्चे जिज्ञासु हैं कहाँ, जो इसकी खोज करें। हैं तो प्रायः सभी पशु-भावापन्न, जिनको आत्म-साधन से सरोकार बहुत कम, केवल क्षणिक इन्द्रिय-सुखों की आवश्यकता है। 'खाओ पियो मौज करो'-इसी एक सिद्धान्त के माननेवाले हैं। उनको क्या पड़ी है, जो तन्त्रशास्त्र के निर्देशों को समझें और समझ कर उसके अनुसार करें।

बात तो यह है कि पञ्च-मकार के ग्रहण करने की योग्यता क्रिया योग के अनुसार करते-करते ही प्राप्त होती है। तभी हम कह सकते हैं—'कुल-कुण्डली-मुखे जुहोमि।' तात्पर्य कि हम जब साधन कर कुण्डली वा प्राण-शक्ति को चैतन्य कर उस सोई शक्ति के मुख को खोलें, तभी हम पञ्च-मकार की आहुति उसमें दे सकते हैं। नहीं तो यह स्वयं खाने-पीने का परम असत्य बहाना मात्र है, जिसका फल भी बुरा होता है जैसा कि हम यथा-कथित वामाचारियों को गिरी दशा से समझ सकते हैं। पञ्च-मकार का सेवन है शारीरिक एवं मानसिक स्फुरत्ता का बढ़ानेवाला। इनकी भी स्फुरत्ता बढ़ती है। पर यह अवैध ग्रहण साधन-स्फुरत्ता को नहीं, व्यसन-स्फुरत्ता को ही बढ़ाता है, जिससे हम पशु से भी अधः-पतित हो जाते हैं।

प्राथमिक साधन के पूर्ण होने से यथार्थ ज्ञान हुआ। अब इस ज्ञान का परि-पाचन होना आव-श्यक है। यह क्रिया-योग से ही हो सकता है। तभी जीव भक्त अर्थात् 'उस' का अंश होता है। (भक्त का एक अर्थ अंश भी है। इसी अर्थ में विभक्ति पद का प्रयोग होता है।) इसी भक्ति वा अंशत्व के द्वारा पूर्णत्व की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार हम किसी एक विशाल नगर के किसी एक स्थान पर जाकर यह कहते हैं कि हम उस नगर में पहुँच गये हैं अथवा किसी नदी का किसी एक जगह पर समुद्र के साथ सङ्गम होने से पूरे समुद्र के साथ नदी का सङ्गम है, ऐसा समझते हैं, उसी प्रकार जीव का शिव के साथ आंशिक योग अर्थात् एक-देशिक योग हो जाने से पूर्ण-योग वा एकता ले आता है। परन्तु इस आंशिक का पूर्ण-रूप में परिवर्तन तभी सम्भव है जब यह योग वा सम्बन्ध ऐसा हो कि किसी भी दशा में न टूटे। इसी सिद्धान्त पर नित्य-मुक्ति और अनित्य मुक्ति का सिद्धान्त है। और इस सम्बन्ध को नित्य करने के लिये निरन्तर धारा-वाही साधन की आवश्यकता कही गयी है। इस साधन के लिये एक-जन्मावधि पर्याप्त नहीं है। अनेक जन्मावधियों की जरूरत है। इसी से गीता की उक्ति है कि अनेक जन्मों की संसिद्धि से इस नित्य सम्बन्ध की, जिसको परम-पद की प्राप्ति कहते हैं, प्राप्ति होती है—

अनेक-जन्म-संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।

यह हठ-योग साधन का आरम्भ है, जब जीव ज्ञान-सहित क्रिया-योग का साधन आरम्भ करता है। इसी की रूपक व्यक्ति है शिव और विष्णु का शरणागत होना। फिर यह हठ-योग साधन एक दिन वा दो दिन का विषय नहीं है. वर्षों की बात है और इसकी प्रक्रिया का उल्लेख भी रूपकोक्ति में होना असंभव है। केवल इसका परिणाम ही कहा जाता है कि इस साधन से सभी चेतनाओं की ऐसी सम्व-र्धना हुई कि एक महती स्फुरत्ता शक्ति का संगठन

हुआ। यह चण्डी—'चडि कोपे' अर्थात् कोप-शक्ति के साधन अर्थात् सम्वर्धना से होता है। यह कोप-शक्ति कैसी है, यह हम इस तरह भी देखते हैं कि हम जब कुपित होते हैं, तो हममें स्फुरत्ता का वृद्धि होती है। इससे होता है क्या ? हम जो वैसे नहीं कर सकते थे, वह भी अब कर लेते हैं। इसी से पुरन्दर पुरुष अब शक्र कहा जाता है। कारण अब पुरन्दर शक्र 'शक्नोतीति शक्रः' अर्थात् शक्र सुतरां कार्य-साधन में क्षम हो गया है।

साधक जीव में तेजोरशि की ज्वलन्त पर्वत के समान एक मूर्ति बन उठती है। मूल उक्ति में जो पर्वत-पद का प्रयोग है, वह विशालता मात्र का बोधक नहीं है। पर्वत का अर्थ है कि जिसमें वा जिसका पर्व अर्थात् खण्ड हो—

पर्वाणि अस्मिन् सन्ति इति पर्वतः।

इस तैजस् पिण्ड के तीन पर्व होते हैं। इसको मातृका-चक्र भी कह सकते हैं, जिसके बारे में तन्त्रोक्ति है कि इस मातृका-चक्र वा श्री-चक्र के तीन खण्ड हैं—'त्रिखण्डं मातृका-चक्रम्।' मन्त्रों के सम्बन्ध में भी कहा गया है कि इनके तीन खण्ड होते हैं। श्रीविद्या के पञ्च-दशाक्षरी वा षोडशाक्षरी महाविद्या में तीन कूट वा पर्व हैं—वाग्भव, काम और शक्ति। यहाँ प्रकरण के अनुसार अर्थात् हठ-योग क्रम के अनुसार इन त्रि-खण्डों का तात्पर्य है—ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि और रुद्र-ग्रन्थि से। कहा गया है कि इस तेजोराशि की ज्वाला दिगन्तर में भी व्याप्त थी। उक्ति में 'दिगन्तर'-पद के प्रयोग से यह बोध है कि इस पिण्डाण्ड की तेजोराशि पिण्ड के दिशा-धर्म से भी बाहर चली गई वा चली जाती है। तात्पर्य कि शरीर से बाहर भी निकलने लगती है। यह योग की सहज विभूति है। आधुनिक वैज्ञानिक अब इसका 'फोटो' भी ले लेते हैं।

इस तेजोराशि की एक मूर्ति बन गयी वा जब बनती है तो नारी-रूप की बनती है। क्यों ? पुरुष-योद्धा के रूप में परिणत न होकर कोमलांगी नारी-रूप को क्यों ? इससे जान पड़ता है कि इस उक्ति में भी अनुसन्धान के योग्य रहस्य है। इसका निराकरण इस प्रकार है कि अव्यक्तावस्था में समस्त प्रकृति का कोई लिंगात्मक रूप नहीं रहता। अवस्था विशेष में ही लिंगात्मक रूप आता है। यह पाश्चात्य वा आधुनिक विज्ञान का भी सिद्धान्त है कि मूल-लिंग स्त्री-लिंग ही है। एक पाश्चात्य वैज्ञानिक ने कहा है—स्त्री-लिंग ही मूल-लिंग है। इसी की इयत्ता में जीवन-मंडल है। पुरुष-लिंग तो सृष्टि के बाद जीवन के श्रृंखला-बद्ध करण के सुभीते के लिये लाया गया है।

वेद के विस्फोट-वाद से भी यह सिद्ध है कि यौन सृष्टि से पूर्व की यह विस्फोट-सृष्टि होती है। कई सौ वर्ष पूर्व इटली देश के कीटाणु-विशेषज्ञ 'स्पेलैन जीनो' ने यह पता लगाया था कि एक प्रकार का कीटाणु अपने को दो भागों में कर एक दूसरे से पृथक् हो एक से अनेक हो जाता है। इनका कहना है कि यह कीटाणु एक 'राड' (डन्डे की तरह है, जो बीच में पतला होते होते दो टुकड़े हो जाता है। फिर पता नहीं चलता कि कौन जच्चा है और कौन बच्चा है। इसी प्रकार इस कीटाणु की वृद्धि होती रहती है। (देखिये 'माइक्रोब हंटर्स' नामक पुस्तक)। तन्त्रशास्त्र का भी आदि सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में ऐसा ही सिद्धान्त है कि एक चरम बिन्दु 'मिनीमा' से विस्फोट के कारण दो बिंदु हुए—एक रक्त और दूसरा शुक्ल। इस प्रकार त्रि-बिन्दु के मिलन से एक त्रिकोण बना, जो त्रि-दिक् शक्ति (तीन 'डाइमेन्शन') धर्म का बना होता है, जिसमें चतुर्थ 'डाइमेन्शन—टाइम डाइमेन्शन' भी अन्तर्निहित रहता है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि बिन्दु, जिसका विस्तृत रूप रेखा, वृत्त आदि है, स्त्री जाति का ही है वा पुरुष-जाति का भी। इसका समाधान यों है कि जो स्वतः वा दूसरे की सहायता से प्रजनन करे, वही नारी-तत्व है और 'जननी'-पद-वाच्य है। अध्यात्मवाद में इस स्वतः-सृष्टि को इच्छा-सृष्टि वा दृष्टि-सृष्टि कहते हैं। आधिदैविक-वाद में मानस सृष्टि है और भौतिक-वाद में विस्फोट-सृष्टि। इस सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में अनेक मत हैं परन्तु शाक्त-

वाद का ऐसा ही मत है, इतना निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है।

इस तेजः-स्वरूप महा-नारी के अवयवों के संगठन का भी उल्लेख है कि किस-किस देवता के तेजस् से कौन-कौन अङ्ग बना। यथा-शम्भु के तेजस् से मुख-मण्डल, यम के तेजस् से केश, विष्णु के तेजस् से बाहें, सौम्य से स्तन-युगल, ऐन्द्र से मध्य प्रदेश, वारुणी से जङ्घा एवं उरु, पार्थिव से नितम्ब-भाग, ब्राह्मी से पाद-युगल, आर्क से पैर की अँगुलियाँ, वासवी (वसु गणों के) से हाथों की अँगुलियाँ, कावेरिक (कुबेर के) से नाक, प्राजापत्य से दन्तावलि-द्वय, आग्नेय से नेत्र-त्रय, सान्ध्य (सन्ध्या के) से भ्रू-युगल, अनिल के तेजस् से कान और सभी कल्याणी चित्त-वृत्तियाँ अन्य सभी देवताओं के तेजस् से संगठित हुईं।

इस उल्लेख से ऐसा बोध होता है कि हममें किस प्रकार की चेतना कहाँ है। हम साधारणतया यह समझते हैं कि सभी देवी-देवता-गण स्वर्ग में वा अपने-अपने लोकों में हमसे ऊपर—पृथ्वी से ऊपर और हमसे बहुत दूर रहते हैं। अगर कोई कहे कि ये अर्थात् विश्व की सभी चेतनायें; सभी शक्तियाँ हममें भी निवास करती हैं, तो यह सुनकर लोग हँस देंगे। तुरन्त प्रश्न करेंगे कि यदि ये हममें भी हैं, तो हम दुःखी क्यों हैं, साधारण के अतिरिक्त कर्मों में अक्षमता क्यों है, इत्यादि इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि ये चेतनाएँ, ये शक्तियाँ हममें जाग्रत् नहीं हैं और सम्वर्धित भी नहीं हैं, इसी से काम नहीं करतीं, जिससे फल नहीं मिलता। जब ये जागती हैं और संवर्धित होती हैं, तभी हमारे आदि शत्रु मधु-कैटभ, माध्यम शत्रु महिष और अन्तिम शत्रु शुम्भ-निशुम्भ नष्ट होते हैं।

अस्तु, उक्त शम्भु, यम आदि का परिचय आवश्यक है। शम्भु हैं शिव वा कल्याण-कारक शक्ति। इनका स्थान है मुख वा मुख-मण्डल। ठीक है, इसी मुख-मण्डल में आँख अर्थात् दर्शन वा ज्ञान, कान—श्रवण-ज्ञान, जिह्वा—रसन-ज्ञान है। इतना ही नहीं, मस्तिष्क इसी मण्डल में है, जो सभी प्रकार के ज्ञानों का भाण्डार है। इस भाण्डार का सङ्गठन शिव-शक्ति के आराधन से अर्थात् हठ-योग से शिव वा कल्याण-मय हो जाता है।

यम के तेजस से केश-राशि सङ्गठित हुई। केश का अर्थ बाल नहीं है। इसका एक अर्थ है क्लेश देनेवाला 'क्लिश्नन्ति इति केशाः' और दूसरा अर्थ है बन्धन (इसी अर्थ में भगवती आद्या मुक्त-केशी कही गई है) 'क्लिश् विबाधायां बन्धने वा।' यहाँ दूसरा अर्थ ग्राह्य है। जिससे यह बोध होता है कि चित्त-वृति की बाँधनेवाली शक्ति का सङ्गठन हुआ अर्थात् चित्त-वृत्ति का निरोध हुआ।

विष्णु के तेजस से बाहें बनीं वा सङ्गठित हुईं। बाहु से हाथ का तात्पर्य नहीं है। इससे वहन करनेवाली अर्थात् पालन करनेवाली शक्ति का बोध है। अब यह प्रश्न है कि किसकी पालनेवाली है। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि हठ योग-प्रक्रिया के अभ्यास से सङ्गठित यह शक्ति प्राण वा जीव की अनात्माकार वृत्तियों से रक्षा कर पालन करती है।

सौम्य तेजस् से स्तन-युगल बने। स्तन से उस शक्ति का बोध है, जो सर्वदा प्राणों की अवस्थिति की सूचना देती रहती है—'स्तनति कथयति सूचयति यद्वा स्तनयते शब्दयते।' यह सूचना हृदय-प्रदेश से मिलती रहती है यहाँ की जो एक विशिष्ट शक्ति है, वह स्निग्ध-कारिणी बनी है, जिससे प्राण स्निग्ध हो बलवान् हो गया है। फिर प्राण के बलवान् होने से इसका साथी मन भी बलिष्ठ हो गया है ऐसा बोध है। कारण प्राण वा मन स्निग्ध रहने से चञ्चल नहीं होते। सुतरां स्थिरता बलवान होने का सूचक है।

ऐन्द्री तेजस से मध्य-भाग बना अर्थात् बलिष्ठ हुआ। मध्य-भाग है कमर से लेकर कण्ठ तक। इसके निचले हिस्से को अधोभाग और ऊपर के भाग को ऊर्द्ध-भाग कहते हैं। अब इन्द्र से जिस प्रकार प्राणों के स्वामी का बोध है, उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के स्वामी का भी बोध है। जैसा पूर्व कहा गया है कि ज्ञानेन्द्रियों का भाण्डार मस्तिष्क है। इस तरह यह पुनरुक्ति हो जाती है। पर नहीं, मस्तिष्क की

ज्ञानेन्द्रियों में और मध्य भाग की ज्ञानेन्द्रियों में कुछ भेद है। भेद यह है कि इन दोनों की कार्य-प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करती हैं। तात्पर्य कि इन दोनों के कार्य-क्षेत्रों में भेद है। 'हेड एण्ड हार्ट' पद के प्रयोग से भी यही सिद्धि होती है। हृदय-क्षेत्र की चेतना सक्रिय होती है। कारण यह प्राण-प्रधान होती है और मस्तिष्क-क्षेत्र की चेतना सद्यः सक्रिय नहीं है कारण यह मनः-प्रधान है। इससे यही सिद्ध किया गया है कि मन-सहित प्राणों का सम्वर्धन होता है।

वरुण के तैजस् से जङ्घा और उरु-द्वय का सङ्गठन हुआ यद्वा होता है। वरुण-पद अनेकार्थ-वाचक है। मूलतः वरुण वैदिक देवताओं में से एक मुख्य देवता है। प्रकरण के अनुसार इनका अर्थ लिया जाता है। इनसे जल अर्थात् रस की अधिष्ठात्री देवता का तात्पर्य है। वेदों के मत से इनका लोक वा निवास-स्थान है उदन्वती। समष्टि रूप में उदन्वती सौर-मण्डल से ऊपर भी है और पृथ्वी के नीचे भी। इस कथन से यह बोध होता है कि समस्त सौर-मण्डल अर्थात् हमारा ब्रह्माण्ड रस-तत्व से वेष्टित है। वरुण का अर्थ है वेष्टन-कर्त्ता—'व्रियते आच्छाद्यते इति वरुणः।' व्यष्टि-भाव में वारुणी शक्ति वा रस-शक्ति से अधोभाग बनता है वा सङ्गठित होता है। ऐसा वेद भी इन शब्दों में कहता है—

उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु।

पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी-तत्व के तेज से नितम्ब बना वा बनता है। नितम्ब-पद का अर्थ है निभृत गत (दबा हुआ) चेतनात्मक अवयव। इस पद के दो अर्थ हैं—एक निकृष्ट, जो साधारण साहित्य में प्रचलित है और दूसरा है प्रकृष्ट, जो यहाँ लिया गया है। पहिला अर्थ है कामुकों का गमन वा सम्भोग-इच्छा जो बढ़ाता है 'निभृतं तम्यते कामुकैः, तम्ब गतौ' और जिस अर्थ में यहाँ प्रयोग किया गया है, वह है परमार्थ-विषयक कामुकों अर्थात् मुमुक्षुओं की उत्प्रेरिका कामना। जब तक पर्याप्त हठ-योग की साधना नहीं होती, तब तक 'नितम्ब'-पद का निकृष्ट अर्थ ही ग्राह्य है।

ब्रह्मा के तैजस् से पाद बना वा बनता है। ब्रह्मा सृष्टि का करनेवाला है। इसकी शक्ति है गमन-शक्ति शक्ति मुख्यतया दो प्रकार की है— एक स्थाणु और दूसरी है विविध प्रकार की गति-शक्तियाँ। दर्शनों में रजोगुण ही सृष्टि-कारक है, शेष दोनों गुण नहीं। ब्रह्मा का वर्ण लाल है, जो रजो-गुण-प्रधान का बोधक है। पैरों के सङ्गठन से इसी तात्पर्य का बोध है कि चल-शक्तियाँ सुचारु रूप से सङ्गठित हुईं, जिससे हठ-योग-साधक के प्राण और मन की गतियाँ वैध-गति से ही अर्थात् उचित मार्गों पर ही चलती हैं।

अर्क के तैजस् से पादांगुलियाँ—अंगुल पद का अर्थ है कि जो संख्या करे वा करने में सहायता दे 'अंगति इति अंगुलिः, अङ्ग उलि उणादि, शाखा-प्रशाखा से संख्या होती है। अँगुलियाँ हाथ और पैर की शाखा कही जा सकती हैं। पैर गमन-शक्तियों के प्रतीक हैं। अंगुलियाँ शक्ति-धाराओं की प्रतीक हैं। मनोवैज्ञानिक भाषा में ये मन की संकल्प-विकल्प-रूप धारायें हैं। ये बनती हैं अर्क की शक्ति से। अर्क-शब्द का अर्थ है उष्ण करनेवाला। ठीक है, उष्ण होकर ही किसी वस्तु की शक्ति फैलती है। यह हम अपने शरीर में रक्त की उष्णता से जान सकते हैं। रक्त ठण्डा हो जाय, तो रक्त-सञ्चालन बन्द हो जाय।

वसुओं के तैजस् से दोनों हाथ और इन दोनों की अँगुलियाँ-जहाँ पैर गमन-शक्ति वा गति-शक्ति के प्रतीक हैं, वहाँ कर कर्म करने को शक्ति के प्रतीक हैं। कर्म, जिनके द्वारा क्रिया-योग में अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, आठ प्रकार के कहे गये हैं। ये वसु जिनकी संख्या आठ है, उनके तैजस् से कर वा कर्म-साधन बने हैं यद्वा बनते हैं। फिर यही ज्ञान-योग-क्रम में आत्मा की अष्ट सम्पत्तियों के प्रतीक हैं। ये हैं—— वैराग्य, विवेक, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान। ये अष्ट सम्पत्तियां जिन साधनों से उपलब्ध हों, वे ही 'कर' पद वाच्य हैं। भक्ति-योग क्रम में नवधा भक्ति के अन्तिम आत्म-समर्पण को छोड़ आठों के साधन-रूप हैं वसु-तैजस् से सङ्गठित कर-द्वय।

कुबेर के तेजस से नासिका—कुबेर प्रकृत पद वाच्य क्या है, यह देखना है। 'कुबेर'-पद का अर्थ है जो धद दे 'कुत्सिति ददाति धनं इति कुबेरः।' धन क्या है? रुपया पैसा वा हीरा-मोती वा जमीन जायदाद यथार्थ धन नहीं, एक धन है सुख, वह भी नित्य सुख। लोग कहते हैं सन्तोष है सर्व-श्रेष्ठ धन, पर हमारे मत से सन्तोष सुख का साधन है। सुख ही है जीव का एक लक्ष्य। हम भले ही क्षणिक सुख के लिये चिर वा नित्य सुख आधार-भूमिका को नष्ट करें। पर अज्ञानी वा ज्ञानी सभी का एकमात्र लक्ष्य है सुख। शान्ति वा ताप से मुक्ति में भी सुख ही सन्निहित है। कारण दुःख के अभाव में सुख का भाव रहता ही है।

सुख देनेवाली शक्ति को कौबेरी शक्ति कहते हैं। इसका स्थान है उत्तर दिशा में। इसका तात्पर्य यह है कि यह शक्ति प्राप्त होती है उत्तर मार्ग पर चलने से। मार्ग हैं दो—दाहिना और बायां। वेद भी यही कहता है। दाहिना है दक्षिण और वाम है उत्तर। इन दोनों की शास्त्रोक्त संज्ञायें हैं—देव-मार्ग और पितृ-मार्ग। इसी को देव-यान और पितृ-यान भी कहते हैं। देव-मार्ग वा वाम-मार्ग से स्वर्ग और ब्रह्म-लोक को जाया जाता है। पर्याप्त साधना रही, तो ब्रह्म-लोक वा परम-पद पाते हैं। नहीं तो स्वर्ग-लोक तक ही रह जाते हैं, जहाँ से पुण्य के क्षय होने पर लौट आना पड़ता है। दक्षिण मार्ग वा पशु-भाव से जाने से पितृ-स्वर्ग जा सकते हैं, जो देव-स्वर्ग की अपेक्षा बहुत कम सुख-दायक है और नरक भी जाते हैं।

उक्त दोनों यानों को उत्तरायण और याम्यायण भी कहते हैं। साधारणतः सूर्य की गति-द्वय को उत्तरायण याम्यायण कहते हैं जो वर्ष को दो भागों में विभक्त करता है। परन्तु यथार्थतः व्यष्टि के ही दो मार्ग हैं। इस मार्ग-द्वय में गलियाँ भी हैं, जिनकी शास्त्रीय संज्ञा वीथी है। फिर दोनों से अतिरिक्त एक मध्यम मार्ग भी है। वेद उत्तर वा वाम-मार्ग को ऐरावत-मार्ग भी कहता है और दक्षिण मार्ग को वैश्वानर कहता है तथा मध्यम मार्ग को जरद्गव कहता है। ये मार्ग-त्रय और इन प्रत्येक की तीन-तीन वीथियाँ जिस प्रकार व्यष्टि में हैं, उसी प्रकार समष्टि में भी हैं। हठ-योग-क्रम में प्राणों का ही साधन मुख्य है, जो नाड़ियों के हिसाब से किया जाता है। इसी की द्योतक है नासिका, जिसके द्वारा प्राण-वायु की गति है। प्राण-वायु की इसी गति को जिस मार्ग से और जिस वीथी से ले जाकर और बाहर निकाल कर साधना की जाती है, उसी के अनुसार इष्ट की प्राप्ति होती है। कौबेरी शक्ति से संवर्धित प्राण-गति की साधना विशेष फल-प्रद है। इसका यही तात्पर्य है।

प्राजापत्य तैजस् से दन्तावलियाँ—'दन्त'-पद का अर्थ है उपशमन करनेवाला? 'दमु उपशमे, दाम्यति इति दन्तः।' दाँतें जो भक्ष्य पदार्थों को काटती हैं, उपशमन-शक्ति की भेद-मात्र हैं। इस शक्ति का सङ्गठन होता है प्रजापति के तैजस् से। प्रजापति से यहाँ मन वा सृष्टि-कारिणी शक्ति का तात्पर्य नहीं है। यहाँ इससे ज्ञान-योग-क्रम में बुद्धि वा उपादेय मन का तात्पर्य है और क्रिया-योग-क्रम में प्राणों के उपशमन करनेवाली शक्ति का है। हम बुद्धि से ही अवाञ्छनीय वृत्तियों का उपशमन करते हैं। ये वृत्तियाँ ही हमारी (व्यष्टि-भाव में) प्रजायें हैं। सुवृत्तियाँ भी हमारी प्रजायें हैं सही, परन्तु इनका संवर्द्धन बुद्धि के द्वारा ही होता है। जिस प्रकार दाँतें हमारे शरीर की पुष्टि के लिये भक्ष्यों का उपशमन कर ही पचने के लिये पेट के भीतर भेजती हैं। उसी प्रकार सम्वर्धित बुद्धि हमारी वृत्तियों को उपशमित कर उपादेय मन के पास भोजनार्थ अर्थात् चिन्तनार्थ भेजती है।

पावक के तैजस् से नयन-त्रय—नयन से केवल दर्शनेन्द्रिय आँख का ही तापर्य नहीं है। नयन उसको कहते हैं, जो हमें अर्थात् नयनवालों को गन्तव्य वा द्रष्टव्य वस्तु तक ले जाय। 'नीयते अनेन इति नयनम्।' आँख हमको दृष्टि-लक्ष्य तक ले जाती है, इसलिये इसको नयन कहते हैं। परन्तु यथार्थतः नयन है, ज्ञान जिससे अपने लक्ष्य की धारणा होती है। पावक नाम अग्नि का है क्योंकि यह उस

वस्तु को पवित्र कर देता है, जिसके सङ्ग इसका सम्पर्क होता है, 'पुनाति इति पावकः।' अग्नि जल के कीटाणुओं को नष्ट कर पवित्र पीने योग्य करता है, धातु यथा सुवर्ण आदि के मलों को जला कर शुद्ध बनाता है। अतः अग्नि का नाम पावक पड़ा। इस प्रकार बोध है कि पावक सत्ता के तैजस् से हमारे नयन-त्रय वा ज्ञान-त्रय अर्थात् भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ज्ञान बनते हैं।

संध्या के तैजस् से भ्रू-युगल—संध्या के दो अर्थ हैं—एक सन्धि का समय और दूसरा वह समय, जिसमें सम्यक् प्रकार से ध्यान हो—'सम्यग् ध्यायन्ति अस्यां इति सन्ध्या।' किन्हीं दो वस्तुओं के योग को सन्ध्या कहते हैं। योग से यहाँ तात्पर्य है मन और उसके लक्ष्य के योग का। योग होने पर ही उचित प्रकार का चिन्तन होता है। हमारे योग की मात्रा जितनी ही घनी होती है, उतनी ही अच्छी धारणा होती है। यही योग-सत्ता सन्ध्या है। क्रिया-योग-क्रम में इड़ा और पिंगला की सन्धि-अवस्था सुषुम्ना है। जब सुषुम्ना द्वारा श्वास-प्रश्वास को धारा बहती है, तभी पूजा, ध्यान, जप आदि साधन-प्रक्रियायें ठीक से काम करती हैं। इसी से तन्त्रों का निर्देश है कि न दिन में, न रात में साधन करना चाहिये 'दिवा पूजयेद्-देवीं रात्रौ नैव च नैव च।'

देवी है हमारी कुंडली-शक्ति। इसकी पूजा वा संवर्धन-क्रिया दिन में अर्थात् इड़ा में प्राण-वायु का प्रभाव जब रहे, तब भी नहीं और पिंगला वा रात में होता रहे, तब भी नहीं। इस प्रकार सन्ध्या के तैजस् से सुषुम्ना के तैजस् का तात्पर्य है। अब, भ्रू-युगल से नयन के ऊर्ध्व-स्थित कुटिल रेखा-द्वय का तात्पर्य नहीं है, अन्तर्देशीय मण्डल का तात्पर्य है। इस मण्डल को मानस-मण्डल वा मानस-चक्र कहते हैं।

भ्रू-पद भ्रम् धातु उणादि से बनता है, जिसका अर्थ है चक्राकार चलनेवाला। यहाँ मन की चक्राकार गति होती है। यह मन का मध्यम स्थान है, जिसके तीन स्थान हैं। एक हृदय-क्षेत्र, दूसरा यही और तीसरा सहस्रार से ठीक नीचे, जो विमर्श-प्रदेश कहा जाता है, जिसकी तान्त्रिकी संज्ञा गुरु-पीठ है। यह जो मध्यम मन-प्रदेश है, उस पर हृदय से अधिक ज्योतिर्बिम्ब पड़ता है।

अनिल के तैजस् से कान वा श्रवणेन्द्रिय—कान से दृष्यमान स्थूल श्रवणेन्द्रिय का ही तात्पर्य नहीं है इससे शब्द-तन्मात्रा के ग्राहक सत्तावान् पदार्थ का बोध है। शब्द-तन्मात्रा की शक्ति अन्य तन्मात्राओं की शक्तियों की अपेक्षा हममें बहुत कम है। इसी से सभी प्रकार के शब्द अर्थात् दूर के और पास के भी अधिक मृदु नहीं सुन सकते हैं। यह तो हुई आहत शब्द की बात। अनाहत शब्द की बात तो दूर रही। हमारी श्रवण-अक्षमता का कारण है प्राण की चञ्चलता। जब योग-प्रक्रिया के द्वारा अनिल वा प्राण-वायु संवर्धित हो जाता है, तो इसकी शक्ति की सहायता से हम सभी प्रकार के शब्द सुन सकते हैं। यही आधुनिक 'टेलिपैथी' विद्या है जिसके सम्बन्ध में लोग अनुसन्धान कर रहे हैं और जिसके बारे में योग-शास्त्र में विधियाँ निर्दिष्ट हैं।

मुख्य-मुख्य तैजस् सङ्गठन का उल्लेख है। अमुख्यों के सम्बन्ध में एक ही जगह सामान्य उल्लेख है कि और-और चेतनाओं के संवर्धन के द्वारा तैजस् मूर्ति के अमुख्य अवयवों का सङ्गठन हुआ वा होता है इस तैजस् मूर्ति का नाम है शिवा अर्थात् कल्याणकारिणी आद्या वा मूला शक्ति। यही इस चरित की नायिका है, जो भद्रकाली की संज्ञा से अभिहित की गयी है।

जीवात्मा का किस प्रकार वा किस रीति से सङ्गठन होता है कि वह तैजसात्मा वा शिव में परिवर्तित होता है, यह यहाँ उल्लिखित नहीं है। इसका कारण यह है कि यह क्रिया-प्रागात्मक व्यावहारिक विषय है, जिसकी शिक्षा वा साधन-प्रणाली पूरी तरह लिखी नहीं जा सकती। पदार्थ-विज्ञान, रसायन-विज्ञान के समान इसकी शिक्षा भी प्रदर्शनीय है। इस हेतु हमको समझना चाहिये कि गुरु मेधस् ने अधिकारी शिष्य सुरथ को उक्त सिद्धान्त के अनुसार व्यावहारिक शिक्षा भी दी, जिसके अनुसार सुरथ ने साधन कर कल्पोक्त फल पाया।

देवताओं ने इस तैजस मूर्ति को अस्त्र-शस्त्रादि

से सज्जित किया । इससे यह बोध होता है कि कल्याण-कारिणी तैजस मूर्ति के सङ्गठित होने से चेतनात्मक शक्तियाँ स्वतः आ जाती हैं । इन्हीं शक्तियों की रूपकच्छलात्मक सज्ञायें हैं आयुध, आभूषण इत्यादि । अब इनके रहस्यार्थ क्या हैं, यह देखना है—

(१) पिनाकी (शिव) ने त्रिशूल दिया, (२) कृष्ण ने चक्र, (३) वरुण ने शङ्ख, (४) हुताशन ने शक्ति, (५) मारुत ने धनुष एवं बाण-पूर्ण तरकस, (६) इन्द्र ने वज्र, (७) सहस्राक्ष ने ऐरावती घण्टा, (८) यम ने काल-दण्ड, (९) अम्बु-पति ने पाश, (१०) प्रजा-पति ने अक्ष-माला, (११) ब्रह्मा ने कमण्डलु, (१२) दिवाकर ने समस्त रोम-कूपों में रश्मियाँ, (१३) काल ने खड्ग व चर्म, या ढाल (१४) क्षीर-समुद्र ने हार, वस्त्र-द्वय, चूड़ामणि, दिव्य कुण्डल, वलय, केयूर, अर्द्ध-चन्द्र, नूपुर, ग्रैवेयक (कण्ठा) एवं अँगूठियाँ, (१५) विश्वकर्मा ने परशु, अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र एवं अभेद्य कवच (१६) समुद्र (क्षार-समुद्र) ने सदा सर्वदा ताजे' रहनेवाले कमलों की दो मालाएँ मस्तक और छाती पर की तथा एक कमल पुष्प, (१७) हिमालय ने सवारी के लिये सिंह और अनेक रत्न, (१८) धनाधिप अर्थात् कुबेर ने खाली न होनेवाला पान-पात्र, (१९) नागों के राजा शेष ने महा-मणि-विभूषित नाग-हार और अन्य देव-गण ने भी भूषणों और आयुधों से उन्हें विभूषित किया। ये सभी योग की विभूतियों के द्योतक हैं, जो इस प्रकार सिद्ध हैं :—

(१) पिनाकी पद का अर्थ है रक्षक 'पाति इति पिनाकः, यस्यास्ति पिनाकः सः पिनाकी ।' जगद्गुरु शिव जिनकी सत्ता है पिनाकी हमारे रक्षक हैं कारण यह ज्ञान से हमारी रक्षा करते हैं। इन्होंने त्रिशूल दिया। त्रिशूल से लौह-दण्ड विशेष का तात्पर्य नहीं है। यह है त्रि-शूल या त्रि-ताप का निवारण करने-वाला साधन वा शक्ति-विशेष ।

(२) कृष्ण से निर्मल काय-रूपात्मा का बोध है जैसा योग-वासिष्ठ भी कहता है। यह एक भागा-त्मक लक्षणाधारसत्ता है। इसने सुदर्शन-चक्र दिया सुदर्शन नाम है सुन्दर ज्ञान का, जिससे अविद्या-जनित विक्षेप का खण्डन होता है।

(३) वरुण ने शङ्ख दिया। इस उक्ति से यह आशय है कि इस तैजस् मूर्ति वा तैजसात्मा में भूमा-रस की नाद-शक्ति आती है। वारुणी शक्ति वा विद्या एक-मत के अनुसार गायत्री महाविद्या है। (दूसरे मत से यह भार्गवी विद्या है।) वरुण जल-देवता कहा जाता है। यह जल सामान्य जल नहीं है। यह है 'आपो ज्योति रसोऽमृतम्।' यह सबमें है—'गायत्री वा इदं सर्वम्।' यही भूमा-रस वा आनन्द-रस है, जिससे जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय है, इसकी प्रधान शक्ति है नाद, जिसका प्रतीक है शङ्ख गायत्री-साधन है नाद-साधन। तात्पर्य कि बिना नाद-साधन के गायत्री-साधन असम्भव है। गायत्री से यहाँ अव्यक्ता गायत्री का बोध है (विशद ज्ञान के निमित्त 'श्री गायत्री तत्त्व विमर्श' द्रष्टव्य है)।

(४) हुताशन ने शक्ति दी—हुताशन अग्नि की संज्ञा है। पर अर्थ में अन्तर है। अग्नि नाम प्राण का भी है और ज्ञान का भी। पर हुताशन का अर्थ है परिपक्व प्राण वा परिपक्व ज्ञान। पर-प्राण में अपर-प्राण की आहुति देने से हुताशन कहलाता है अन्यथा अग्नि कहलाता है। ऐसे ही परिपाचित ज्ञान को, जो विशेष ज्ञान में अविशेष वा अयथार्थ ज्ञान-राशि के दहन होने से होता है, हुताशन कहते हैं। शक्ति से भौतिक अस्त्र वा शस्त्र का तात्पर्य नहीं है। इस उल्लिखित शक्ति से प्राण-शक्ति वा ज्ञान-शक्ति का बोध है।

(५) मारुत ने धनुष और अक्षय तरकस दिया-मारुत नाम मुख्य प्राण का है क्योंकि इस प्राणवायु के बिना कोई जीवित नहीं रह सकता 'म्रियन्ते अनेन इति मारुतः।' मारुत का दूसरा अर्थ भी है कि जो रोने से रोके 'मा रोदीः इति मारुतः।' इस अर्थ में भी मारुत पद से सम्वर्धित मुख्य प्राण का बोध है, जो जीवों को रोने नहीं देता। कारण इस मुख्य प्राण की सम्वर्धना से किसी प्रकार की आधि वा व्याधि जीव को रुला नहीं सकती। यही हम जीवों को शरीर रखने और इसका उपभोग करने देते हैं।

श्रुति ने इस शरीर को क्रिया-योग-क्रम में धनुष रूप माना है। यही धनुष है ज्ञान-योग क्रम में बुद्धि और शर वा वाण है ज्ञान, जिससे ब्रह्म-रूपी लक्ष्य का वेध होता है—'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महस्त्रं शरं हि उपासा निशितं सन्धयीत। आयम्य तद्भाव-गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि'-मुण्डक २।२।३ क्रिया-योग-क्रम में वाण से, जो 'वण शब्दे' धातु से बनता है, कम्पन-क्रिया का बोध है। यह वाण वा कम्पन प्राणायाम-प्रक्रिया की दूसरी अवस्था है। इसी के अभ्यास से तात्पर्य है। वाण को सान देकर समाधि की उपलब्धि है, जो अक्षर-ब्रह्म का भेदन वा वेधन है। फिर भक्ति-योग-क्रम में यही कम्पन भावावेश आने से होता है। यही भक्ति-योग-क्रम की समाधि की पूर्वावस्था है।

(६) इन्द्र ने वज्र दिया—इन्द्र है मुख्य मन ज्ञान-योग-क्रम में और मुख्य प्राण है क्रिया-योग-क्रम में। मन और प्राण दोनों की सम्वर्धना से दोनों में वज्रत्व अर्थात् अटल सुदृढ़त्व आता है। तभी 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः', यह गीतोक्ति चरितार्थ होती है।

(७) सहस्राक्ष ने अपनी सवारी के हाथी ऐरावत का घण्टा दिया। सहस्राक्ष है तो देव-राज इन्द्र ही, पर भिन्न-गुणी है। इन्द्र की परिभाषा पूर्व कही जा चुकी है। सहस्राक्ष की परिभाषा से जो यहाँ दी जा रही है तुलना करने पर यह भिन्नता सिद्ध होगी। सहस्राक्ष का अर्थ है अधिक आँख अर्थात् ज्ञानवाला। इन्द्र ने अहल्या 'न हल्या हलने अशक्या' अर्थात् जो क्षेत्र जोतने (हल से) योग्य नहीं है अर्थात् ब्रह्म-क्षेत्र से तादात्म्य कर उसे जोत लिया। तभी वह 'सहस्राक्ष' पद-वाच्य हो सके। इस सहस्राक्षत्व-पद से सर्वज्ञत्व एवं सर्वगत्व का बोध है।

इस सर्वज्ञ और सर्वग का वाहन ऐरावत है। यह ऐरावत चार दाँतवाला उज्ज्वल वर्णवाला विशाल हाथी नहीं है। ऐरावत पद इर-गमने धातु से बनता है। इरा शक्ति अर्थात् क्रिया-शक्ति-सम्पन्न पदार्थ है। इसका अपत्य वा तत्सम्बन्धी है ऐरावत। पौराणिक कथा है कि इसकी उत्पत्ति समुद्र से है। ठीक, समुद्र है इरावान्। इरा नाम जल का भी है। परन्तु प्रकरणानुसार समुद्र से आकाश-समुद्र का तात्पर्य है। यह आकाश-समुद्र एक प्रकार का महान् असीम शून्य है, जिसमें सभी प्रकार की शक्तियाँ एवं स्वतः सभी प्रकार के जीव कीटाणु समूह हैं और जिसमें चित्र-विचित्र शक्तियाँ काम करती रहती हैं, जिनके द्वारा रासायनिक संयोग एवं संयोग-सम्बन्ध आदि द्वारा विश्व के सभी काम होते रहते हैं। अस्तु, ऐरावती घण्टे से क्रियात्मक शक्ति के कम्पन-नाद का बोध है। इससे ऐसा बोध है कि सर्वधित तैजस् आत्मा में क्रियात्मक शक्ति का सतत कम्पन-नाद होता रहता है।

(८) यम से दण्ड-शक्ति—यम किसे कहते हैं, यह पूर्व कह आये हैं। यहाँ प्रकारान्तर में कहा जाता है कि यम नाम का कोई हमसे भिन्न जीव नहीं है। यह हममें ही रहनेवाली चेतना-शक्ति है, जो जीव की मृत्यु के पश्चात् (कभी कभी जीवितावस्था-विशेष में भी) किञ्चित् काल-पर्यन्त इन्द्रियों के संयत होने पर और रहने पर्यन्त अपने सुकर्म और दुष्कर्म का उचित विचार वा परिगणन करती है। यह चेतना वा देवता हमारे जीवन-काल में निरपेक्ष भाव से विचार नहीं कर सकती है। कारण जीवन-धारा के स्रोत में हमारे इन्द्रिय-गण संयत नहीं रहते और बाहरी प्रभावों से भी चञ्चलता रहती है। अलम्बहुना, दो शब्दों में कहते हैं कि संयतावस्था ही यम है।

इसके विपरीत असंयतावस्था ही है चित्रगुप्त वा चित्र-विचित्र गुप्त भावों से भरा हृत्-पट। यह जो रूपकोक्ति है कि चित्रगुप्त महाराज एक पोथी में सभी जीवों के सुकर्म और दुष्कर्मों की सूची लिखते रहते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि हमारे सुकर्म और दुष्कर्म सभी इसी अन्तःस्थ हृत्-पट पर चित्रवत् अंकित होते रहते हैं और यम-दण्ड है माप-दण्ड। यह है विवेक, जो भले और बुरे की विवेचना करता है। यह तो हुई ज्ञान-योग-क्रम की बात। क्रिया-योग-क्रम में यह दण्ड है मेरु-दण्ड। इस दण्ड से कुण्डली का उत्थान मापा जाता है। इसी से काल-पुरुष का ज्ञान है। (इसके सम्बन्ध में विशद ज्ञान के लिये पातञ्जल दर्शन द्रष्टव्य है।)

(९) अम्बु-पति से [illegible]—यहाँ अम्बु का

अर्थ जल नहीं है [illegible] अम्बु-पति का तात्पर्य जल देवता वरुण नहीं है। अम्बु-पद 'अवि शब्दे' धातु से बनता है। इसका अर्थ है शब्द करनेवाला। शब्द करनेवाले हैं मुख्य और [illegible] प्राण-समूह। ज्ञान योग-क्रम में अम्बु-पति है [illegible] कारण यह इन्द्रियों का स्वामी है क्योंकि इसके ही अधीन इन्द्रिय वा प्राण-गण रहते हैं।

इस प्रकार इस उक्ति का ऐसा बोध है कि तैजस् आत्मा में मन के बाँधने की शक्ति आ जाती है। क्रिया-योग-क्रम में ऐसा तात्पर्य है कि मुख्य प्राण को, जो प्राणों का स्वामी है, बाँधने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य कि कुम्भक प्राणायाम की शक्ति पर्याप्त बढ़ जाती है। फिर भक्ति योग-क्रम में ऐसा बोध है कि रागस्वरूप पाश के सम्वर्धन होने से भक्ति की दृढ़ भूमिका बनती है। बनानेवाले हैं सम्वर्धित मन और प्राण।

(१०) प्रजापति से अक्ष-माला—प्रजापति से आदि प्रजापति अर्थात् सृष्टि के आदि कारण का बोध है। इसकी पर्यायवाचक संज्ञा है महा-चिति। अक्ष-नाम आँख अर्थात ज्ञान का है। सुतरां इस उक्ति से ऐसा बोध है कि तैजस् आत्मा में ज्ञान-माला अर्थात् सभी प्रकार के ज्ञान का उदय होता है।

(११) ब्रह्मा से कमण्डलु—क + मण्ड + ल + उ= कमण्डलु पद अनेकार्थ-वाचक है। इसका एक अर्थ है, जो यहाँ प्रकरणानुसार ग्राह्य है कि ज्ञान-रूपी जल वा रस जिसमें रहे। इससे अक्ष-माला वा ज्ञान-माला रखने की पात्रता होती है और यह होती है ब्रह्मा वा उपादेय मन के द्वारा।

(१२) दिवाकर की ज्योति से समस्त रोम-कूप प्रकाशित हुये—दिवाकर से दृश्यमान सूर्य का तात्पर्य नहीं है। इस दिवाकर वा चित्-सूर्य से हमारा अन्त-श्चक्षु प्रकाशित होता है। इसी हेतु आँख का उल्लेख न कर समस्त रोम-कूपावलि का उल्लेख है। यह हुई ज्ञान-योग-क्रम की बात। क्रिया-योग-क्रम में तैजस् आत्मा में जहाँ-तहाँ से दर्शनेन्द्रिय का काम लिया जा सकता है। इसका तात्पर्य है इस उक्ति से-इस विभूति-विशेष का समाचार पाश्चात्य देशों से भी समय-समय पर आता रहता है।

(१३) काल से खड्ग और निर्मल चर्म (ढाल) मिला—काल पद 'कल्' धातु से बना है। यह अनेकार्थ-वाचक पद है। काल है कलन-कर्ता। कलन का जहाँ अर्थ है संहरण, वहीं सृजन भी है। फिर कलन नाम प्रेरणा का भी है। सुतरां काल से कला-त्मक सत्ता अर्थात् चिति-सत्ता का बोध है, जिससे विश्व के सभी प्रकार के विरोधात्मक एवं अवि-रोधात्मक कर्मों का सम्पादन होता है। यह मूला आद्या धर्म-शक्ति महा-चिति की धर्म-शक्ति है। (यह शाक्त सिद्धान्त है। वेदोक्त काल-वादी काल ही को धर्म-शक्ति वा परमा सत्ता मानते हैं।) काल अखंड एवं असीम है। परन्तु इसका प्रधान आयुध (शक्ति) वा गुण खण्ड कर ससीम करने-वाला खड्ग है।

यह काल अपने इसी खड्ग से अपने को भी खण्डित करता है और प्रकृति के सभी पदार्थों को भी, जिससे इसकी अपनी और प्रकृति की व्यक्ति हो। अन्यथा न काल का ज्ञान होता और न प्रकृति की किसी वस्तु का। कारण जिस प्रकार काल-गति का पता लगाना असम्भव है, उसी प्रकार प्रकृति की किसी वस्तु के मूल-स्वरूप का पता लगाना असम्भव है। सुतरां खड्ग-रूपी ज्ञान-द्वारा परिच्छिन्न कर पता लगता है। प्रकारान्तर में ऐसा भी समझ सकते हैं कि खड्ग-रूपी ज्ञान से ही तैजसात्मा काल की असीमता और अपरिच्छिन्नता का ज्ञाता होता है। इसी कारण वह राग-द्वेष से परे हो पूर्ण सात्त्विक भाव में आ जाता है। (यही तो महिषा-सुर को जीतना है।)

(१४) क्षीर-समुद्र से वस्त्र और आभूषण—क्षीर-समुद्र से पुराणों की रूपकोक्ति दूध के समुद्र का तात्पर्य नहीं है। क्षीरोद पद का प्रयोग रहस्य-गर्भाश्रित है। यह पेय पदार्थ नहीं है, जैसा इसका साधारण अर्थ मानते हैं। यह 'षस् भक्षणे' धातु से बना (ईरन् उणादि) है, जिसका अर्थ खाद्य है। अस्तु, क्षीरोद नीर-क्षीर-सम्बन्ध का द्योतक है। यह सम्बन्ध नित्य है। यह जैसे पानी और दूध में है, वैसे ही सत और असत् में तथा चित् और अचित् में।

जिस प्रकार दूध पानी से पृथक नहीं रह सकता, उसी प्रकार सत् असत् से और चित् अचित् से पृथक् नहीं हो सकते। (जब होता है तो अनाख्य अर्थात् अचिन्त्य होने से अवर्णनीय है।) इस सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् चित् और अचित् के नित्य सम्बन्ध का ज्ञान तैजस् आत्मा को हो जाता है। इससे उसको सदा-सर्वदा नये रहनेवाले वस्त्र-द्वय मिलते हैं। वस्त्र-द्वय से सर्वांग के आवरण का तात्पर्य है। यह वस्त्र-द्वय भौतिक नहीं आध्यात्मिक वस्तु है। सुतरां वस्त्र-द्वय से सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के ज्ञान की अजर वा अम्लान दृढ़ता का बोध है।

यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि तैजस् आत्मा में दोनों ज्ञान रहते हैं, पर जब यही तैजस् आत्मा प्राज्ञ आत्मा में परिणत होती है, तो सामान्य ज्ञान का लोप हो जाता है। अर्थात् प्राज्ञ आत्म-जीव सामान्य ज्ञान से काम नहीं लेता है। यथा कान रहते भी शब्द नहीं सुनता, जिह्वा रहते बोलता नहीं है इत्यादि। ये प्रशान्तावस्था के लक्षण हैं। ऐसा श्रुति भी कहती है कि रूपों का ज्ञान अन्धा बनकर लो, बहरे जैसा सुनो। तात्पर्य कि देह को काष्ठ-वत् मानो। यही प्रशान्त के लक्षण हैं—

अन्ध-वत् पश्य रूपाणि, शब्दं बधिर-वत् शृणु।
काष्ठ-वत् पश्य वैदेहं प्रशान्तस्येति लक्षणम्॥
(अमृत-नादोपनिषद्)

यह हुई वस्त्र-द्वय की बात। अब आभूषणों को लें। आभूषणों से शरीर के शोभा-कारक द्रव्यों का बोध नहीं है। ये आत्मा के दीप्ति-कारक गुण वा शक्तियाँ हैं। ये हैं अनेक, जिन सबकी पृथक्-पृथक् विवेचना स्थानाभाव-वश असम्भव है। सुतरां एक वा दो की विवेचना करते हैं—

(क) अमल-हार—हार वस्तु है मनोहार (मनोहर) अर्थात् मन को हरनेवाला। मन का हरण सुवर्ण वा रत्नादिक के बने हार वा माला नहीं कर सकती है। प्रकृत हार है अनुराग वा प्रेम, जो हमारे मन को अन्य वस्तुओं से हटाकर एक इष्ट-मात्र में व्यवस्थित करता है। सुतरां भक्ति-योग-क्रम में हार है भक्ति, ज्ञान-योग-क्रम में हार है वैराग्य और क्रिया-याग-क्रम में है ध्यान। (प्रचलित कर्म-योग-क्रम में यह है कर्त्तव्य-ज्ञान।)

(ख) चूड़ामणि—यथार्थ चूडामणि वह नहीं है, जो कुछ दिन पूर्व प्रचलित था और जिसको स्त्रियाँ, विशेषतः मारवाड़ एवं मेवाड़ की स्त्रियाँ, पहिना करती थीं। चूड़ा का अर्थ है सर्वोत्कृष्ट। चूँकि सिर पर बँधी चूड़ा वा खोंपा सबसे ऊँचे स्थान पर अवस्थित है, यह चूड़ा कहलाता है और मणि नाम है प्रकाश-कारक पदार्थ का। इस प्रकार ज्ञान-योग-क्रम में इस चूड़ामणि से उस सर्वोत्कृष्ट ज्ञान का बोध है, जो धारक (पहिनेवाले) को तो दीप्त करता ही है, अपिच देखनेवालों को भी दीप्त करता है। क्रिया-योग-क्रम में मणि से नाद-कारक पदार्थ का बोध है क्योंकि इसका शब्दार्थ ही यह है 'मण् शब्दे।' चूड़ा है ब्रह्म-रन्ध्र, जो मस्तक के सर्वोच्च स्थान पर है। इस प्रकार वहाँ अर्थात् ब्रह्म-रन्ध्र में जो नाद करे, वही प्रकृत चूड़ामणि है। यह चूड़ा-मणि-शक्ति उच्च कक्षा के योगियों में रहती है। तात्पर्य कि जिन योगियों को समाधि लगती है, उनमें उस समय वा समाधि के समय हृदय में प्राण का स्पन्दन-जनित नाद न होकर ब्रह्म-रन्ध्र में ही होता है। यह गुण-रूपी आभूषण तैजस् आत्मा का ही है, ऐसा बोध है।

एतादृश नाना विभूषणों अर्थात् गुणों से विभूषित वा अनेक विभूति-युक्त होती है तैजस् आत्मा, सो भी अनेकानेक साधन-प्रक्रियाओं के पूर्ण होने पर। यह है तैजस् की आदि वा प्रारम्भिक अवस्था, जिससे नाद मुहुर्मुहु और घोर रूप का होता है। इस नाद से नभ अर्थात् हृदयाकाश वा दहराकाश पूरित हो जाता है। यही नाद महिष के नष्ट होने पर अति मृदु, अति मधुर एवं अति सूक्ष्म हो जाता है। अन्त में अर्थात् साधन के पूर्ण हो जाने पर जब समाधि लगती है, तो यह निरुद्ध-प्राय हो जाता है। (इस नाद-शक्ति के विशद ज्ञान के लिये श्रुति-नाद-बिन्दूपनिषत् एवं तत्सम्बन्धी अन्य ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।)

इस अनवरत नाद का कारण है कम्पन। इसी

हेतु उक्ति है 'चुक्षुभुः सकला लोकाः समुद्राश्च चकम्पिरे' अर्थात् सकल आलोक-स्थान अर्थात् सभी ज्ञान-केन्द्र एवं सातों समुद्र अर्थात् सप्त-धातु क्रमशः क्षोभित हुए और काँपने लगे। यहाँ क्षोभित से कलुषित होने का तात्पर्य नहीं है वरन् स्थगित (स्तब्ध) का वाच्य है। ज्ञान-केन्द्र से इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है अर्थात् बाह्य ज्ञान का ही तात्पर्य है। अन्तर्ज्ञान तो अभी रहता ही है। यह नष्ट होता है तब, जब शुंभ-निशुम्भ का वध होता है अर्थात् जब निर्विकल्प समाधि लगती है। यह तो मध्यमावस्था-मात्र है जिसमें समाधि-पञ्चिका की दूसरी समाधि लगती है, जिसको संज्ञा है 'बाह्य-शब्दानुविद्ध।' (इसके पश्चात् अर्थात् साधन में और अग्रसर होने पर तीसरी अन्तर्दृश्यानुविद्ध, चौथी अन्तःशब्दानुविद्ध और अन्त में निर्विकल्प समाधि लगती है।)

फिर उक्ति है कि इस नाद से महीधर-सहित वसुधा चञ्चल हो गयी वा काँपने लगी। पृथ्वी से क्रिया-योग-क्रम में मूलाधार चक्र का तात्पर्य है। यही ज्ञान-योग-क्रम में ज्ञान की सप्त-भूमिकाओं में की प्रथम भूमिका है। जिस प्रकार स्थूल नीलाचल, मन्दर, चन्द्रशेखर, हिमालय, सुवेल, मलयाचल और सुपर्वत स्थूल पृथ्वी का भार ठीक रखे हैं, उसी प्रकार व्यष्टि-स्थित पृथ्वी का भार सात महीधर रखे हैं। (यह मत है निर्वाण तन्त्र का। विश्वसार तन्त्र के अनुसार इनकी संख्या आठ है। षट्-चक्र-निरूपण का भी यही कहना है, परन्तु इनको शूलाष्टक कहता है।)

तात्पर्य यह है कि पृथ्वी वा मूलाधार-चक्र पर से कुण्डली जब ऊपर की ओर उठती है, तो गति का एक दबाव होता है, जो आधार पर पड़कर उसको कँपाता है। इसी भाव की द्योतक है हनुमान के लङ्का तक उड़ने की कथा, जिस समय पहाड़-सहित पृथ्वी काँप गयी। इसका रहस्यार्थ यह है—हनुमान् हैं वायु पुत्र अर्थात् पर-प्राण के अपत्य अपर-प्राण। लङ्का है हृदय, जहाँ माध्यम ज्ञान होता है। लङ्का 'लक् दर्शने' धातु से बना है, जिसका अर्थ है देखने का स्थान।)

अस्तु, साधक के यहाँ तक साधन करने पर एतादृशी लक्षणायें होती हैं। तात्पर्य कि कुण्डली अर्थात् कुण्डलाकार लिपटी प्राण शक्ति जब ऊपर उठती है, उस समय बहुत जोरों का कम्पन होता है और तज्जन्य नाद भी होता रहता है। इससे आनन्द की एक लहरी बहने लगती है, जिसकी द्योतक है यह उक्ति कि देव-गण जय जयकार करने लगे अर्थात् समस्त चेतना-राशि पुलकित हो उठी।

इस प्राण-शक्ति को सिंह वाहिनी चण्डी कहते हैं। क्यों ? महिष को मारती है अथवा यों कहें कि महिष को पाँव तले दबा रखती है। इस हेतु महिष-मर्दिनी कहते हैं। पर इनको सिंह पर बिठाने का क्या रहस्य है ? यह सिंह कोई जन्तु नहीं है। यह है समग्र धर्म का प्रतीक। वैकृतिक रहस्य भी कहता है 'सिंहं समग्रं धर्ममीश्वरम्।'

युक्ति से यही सिद्ध है कि जो हिंस करे, वही सिंह। (यह शब्द विकल्प❀रूप है यथा पश्यक को कश्यप, वल्ग का वगला इत्यादि। हिन्दी में भी मतलब का मतबल रूप का प्रयोग है।) हिंसा-कर्म एवं हरण-कर्म प्रायः पर्याय-वाचक संज्ञायें हैं। जिस प्रकार हरि एवं हर अर्थात् हरनेवाला वा दूर करनेवाला है त्रिताप का, उसी प्रकार सिंह वा मारनेवाला सभी प्रकार के दुःखों का मारनेवाला वा दूर करनेवाला है। दूसरा सिंह-रूपी धर्म पर जो चढ़ जाता है अर्थात् व्यवस्थित हो जाता है, वह ऐश्वर्य वा प्रतिभा-सम्पन्न हो अपने षड्-रिपुओं को मार अपने पशु-पाशाष्टक को काट कर जीव से शिव हो जाता है। यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं है कि शिव का वाहन वृष भी समग्र धर्म का द्योतक है।

अस्तु, साधक जब इतना अग्रसर होता है, तब तीनों लोक अर्थात् भू-लोक वा मूलाधार-चक्र, भुवर्लोक वा स्वाधिष्ठान चक्र और स्वर्लोक वा मणिपुर वा नभ्य चक्र संक्षुब्ध अर्थात् निष्क्रिय हो जाते हैं। ठीक ही है, कारण प्राण शक्ति अब चतुर्थ लोक अर्थात् महर्लोक में अर्थात् हृदय (लङ्का)

❀'हिंसि धातोः सिंह शब्दो वश कान्तौ शिव-स्मृतः। वर्ण-व्यत्ययतः सिद्धौ पश्यकः कश्यपो यथा॥'

में आकर लंका के सिंह-द्वार को तोड़ना चाहती है अर्थात् विष्णु-ग्रन्थि का भेदन करना चाहती है। पर हृदय-द्वार तोड़ना कुछ सरल नहीं है। (बाहरी शत्रुओं का उतना भय नहीं, जितना अन्तः-शत्रुओं का है। ये शत्रु हमारे जन्म-जन्मान्तरों के कृत कर्मों के जनित वर्तमान कुसंस्कार-गण हैं। इन कुसंस्कारों का राजा राग-द्वेष है। यही है महिषासुर।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि महिष को पहले राग-स्वरूप कहा है। फिर यहाँ उसी को राग-द्वेष-रूप कहते हैं! दूसरे राग और द्वेष परस्पर-विरोधी गुण हैं। उनका एक वा एकत्रित रूप कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि राग वा वासना दो प्रकार की है—एक उत्कृष्ट वा वाञ्छनीय। इसमें द्वेष नहीं है। यह सिद्ध साधक की चरमावस्था है। इस अवस्था में सिद्ध साधक विश्व को अपना समझ किसी से भी द्वेष नहीं करता। यही ब्रह्मावस्था है। दूसरा है निकृष्ट वा अवाञ्छनीय। यह सबमें रहता है। सबको किसी व्यक्ति वा भाव से राग है, तो किसी व्यक्ति वा भाव से द्वेष है। इसी द्वन्द्व का संसार है इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरी अवस्था भी है, जिसमें न राग है और न द्वेष। यथार्थतः यह निर्विकल्पावस्था है, जिसको अनाख्या भी कह सकते हैं। यह शुम्भ-निशुम्भ अर्थात् अहंकार और (स्वतः) ममता के नष्ट होने पर आती है। यह गुणातीतावस्था है।

अस्तु, कहा गया है कि नाद सुनकर महिष स-सैन्य लड़ने को दौड़ा। इसका यह तात्पर्य है कि साधक के पूर्व-जन्म जित कुसंस्कार सब साधन में बाधा डालने लगे। कथानक है कि सर्व-प्रथम चिक्षुर और चामर स-सैन्य लड़ने आये। फिर इनके नष्ट होने पर क्रमशः उदग्र, महाहनु, असिलोमा, वाष्कल और विड़ाल ये पाँचो आये। ये सातों कौन थे? क्या ये बड़े-बड़े दाँतवाले, बड़े-बड़े सींगवाले, पिशाच-वदन राक्षस थे—जैसा कथा-वाचक लोग कहा करते हैं? नहीं, ये सब कल्पित घृण्य रूप के हैं। अर्थात् ये सब हमारी अवाञ्छनीय चित्त-वृत्तियों के द्योतक हैं। ये सातों सप्त-द्वन्द्व में के सातों हैं, जिनका उल्लेख शास्त्रों में है। इन सातों के प्रतिद्वन्द्वी सातो महाविद्यायें हैं, जो सप्तशती में प्रतिपादित हैं, जिस हेतु सप्तशती को 'सप्तसती' भी कहते हैं। मेरुतन्त्र में तीनों चरितों की पृथक्-पृथक् सप्त-सतियाँ कही गई हैं। उक्त सातों का परिचय इस प्रकार है—

(१) चिक्षुर-चामर—चि+क्षुर का अर्थ है अव्यक्त भाव से अर्थात् चोरी से काटे। यह है 'पाकेट' मार, पर किसी स्थूल वस्तु याने रुपये-पैसे इत्यादि का नहीं। यह वह आसुरी सर्ग है, जो साधक के अभ्यन्तर अलक्षित भाव से विषय-वासनाओं को बढ़ा कर अखण्डाकार आत्म-वृत्तियों को काट गिराता है। चामर इसका सहकारी सर्ग है। 'चम्यते, चमति वा चामरः' खानेवाला है 'चमु—भक्षणे'। तात्पर्य कि चिक्षुर से कटे भावों को चामर खा लेता है अर्थात् नष्ट कर देता है।

(२) उदग्र-महाहनु— उदग्र वह आसुरी सर्ग है, जो तीव्र-गति से स्वभाव को उद्धत वा नीच बनाता है। उद्धत होता है विचार-हीन वा विवेक-हीन। विवेक-हीन धर्म-हीन हो जाता है। धर्म-हीन होकर हो जीव अधोगति को जाता है। इस विवेक-हीन करनेवाले उदग्र का सहकारी है महा हनु, जिसका अर्थ बड़ी ठुड्डीवाला नहीं है। हनु नाम नाश करनेवाले का है—'हन्ति इति हनुः।' इसी अर्थ में पवन-सुत महावीर को हनुमान् कहा जाता है क्योंकि उन्होंने असंख्य राक्षसों का अर्थात् आसुरी सर्गों का संहार किया था वा यों कहना युक्त है कि करते हैं। इस प्रकार उदग्र जीवों को बुद्धि-हीन बनानेवाला है और इन बुद्धि-हीनों का नाश करनेवाला है महा-हनु। गीता भी कहती है-'बुद्धि-नाशात् प्रणश्यति।' इस प्रकार बोध है कि उदग्र हम जीवों को विवेक-हीन बनाकर महा-हनु से नष्ट कराता है।

(३) असिलोमा-वाष्कल—असिलोमा का यह अर्थ ग्राह्य नहीं है कि जिसका लोम (रोंआ) तलवार के सदृश हो। यहाँ 'असि' से न तलवार का बोध है और न 'लोमा' से रोंएँ का। लोमा 'लू छेदने' धातु का बना छेदक है अर्थात् खण्डित करनेवाला। तात्पर्य कि जो असि को काटे, वह

असि-लोमा है। फिर यहाँ असि से तलवार का बोध नहीं है। ज्ञान-योग-क्रम में असि से ज्ञान का बोध है। इस प्रकार ज्ञान को जो काटे, वह असि-लोमा है। क्रिया-योग-क्रम में असि है इड़ा और वरुणा है पिंगला। ये दोनों क्रमशः गङ्गा और यमुना (व्यष्टि की) कही जाती हैं। इस प्रकार असि अर्थात् गङ्गा वा ज्ञान-गङ्गा में मिलने के पथ को जो खण्डित कर; वही है प्रकृत असि-लोमा पद-वाच्य। इस आसुरी सर्ग का सहकारी है वाष्कल, जिसका अर्थ है रोक कर कलन वा संहार करनेवाला—'वाः—वारयति + कलः=कलयति च।' यह वाष्कल षट्-विकार-रूपी है। शास्त्रोक्त षट्-विकार हैं—जन्म लेना, रहना, बढ़ना, अन्य रूप में परिणत होना, घटना और नष्ट होना—

जायते अस्ति वर्द्धते।
विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति ॥

इसी हेतु वाष्कल की सैन्य-सख्या छः सौ अयुत कही गयी है—

अयुतानां शतैः षड्भिः वाष्कलो युयुधे रणे।

(विकारों की संख्या छः लक्ष है) ये सब छः के ही भेद, अवान्तर भेद इत्यादि हैं। संक्षेप में तात्पर्य है कि वाष्कल विकारों का उत्पादक सर्ग है।

(४) विड़ाल—यह किस आसुरी सर्ग का प्रतीक है, यह देखना है। इसका निर्णय गुणों के आधार पर है। विड़ाल वा बिल्ली एक 'शिकारी जानवर' है, जो सर्वदा हिंसा किया करता है, पर इसी हिंसा-गुण के आधार पर यह रूपक रहता, तो बाघ-सिंह का रूपक दिया जाता। सुतरां अन्य गुणों का विचार कर्त्तव्य है। यथा निःशब्द-गति, लोभ, चतुरता इत्यादि। निःशब्द-गति कुत्तों की भी है, पर बिल्ली की जैसी नहीं। फिर लोभ तो इसमें अन्य जानवरों की अपेक्षा अत्यन्त अधिक है। इसी मुख्य लक्षण के आधार पर यह प्रतीक कहा गया है।

ठीक ही है, क्योंकि लोभ है पाप का मूल—'लोभः पापस्य कारणम्।' इसी से इसका उल्लेख अन्त में है। यह लोभ-सर्ग जीव में प्रायः साधनान्त तक रहता है। यथा मुक्ति का लोभ, स्वर्ग का लोभ। सुतरां, अन्य सभी आसुरी सर्गों पर साधन के बल से विजय पाकर अन्त में इस पर साधक विजय पाता है। फिर एक बात और है कि सन्त कबीर की उल्टी वाणी जैसी श्रुति भी कहती है—'एक बट-वृक्ष है, जिसकी जड़ ऊपर और शाखायें नीचे। इसके तले नन्हा सा गुरु वृद्ध शिष्य-वृन्द को शिक्षा दे रहा है।'

अस्तु, कथानक है कि महिष के सात सेनापति पूर्वोक्त चिक्षुर, चामर आदि हैं। प्रकारान्तर में ये सात विकृत वा आसुरी प्राण हैं। यह सिद्धान्त मुण्डक श्रुति का है। यह मान्य सिद्धान्त होने से प्रचलित है। इसी से समुद्रों, लोकों आदि की संख्या सात कही जाती है। यह है मुण्डक की उक्ति—

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्
सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ॥
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति
प्राणा गुहाशया निहितः सप्त सप्त ॥
२।८

ये सातों विकृत प्राण-वर्ग अपने-अपने असंख्य बलों के सङ्ग देवी अर्थात् साधक का परं-ज्योति वा दिव्य ज्ञान के सङ्ग युद्ध करने लगे। तात्पर्य कि अन्तर्ज्योति को आच्छादित कर उसे बुझाने की चेष्टा करने लगे। यादृश धुँयें से ज्वाला आच्छादित होती है, तादृश ही यह चेष्टा होती है। फिर जैसे कच्चे विद्यार्थी को पढ़ने के समय नींद सताती है, स्वाध्याय के बदले निम्न वा निकृष्ट कोटि के रोचक उपन्यास आदि पढ़ने की ओर या सिनेमा देखने जाने के पूर्व कुसंस्कारावलि मन को आकृष्ट करती है, वैसे ही साधक को साधन की ओर बढ़ने से ये आसुरी सर्ग-गण निरस्त करने की चेष्टा करते हैं। यही चेष्टा है स्वजातीय धारा को विजातीय धारा में बदलने की चेष्टा। यही है देवासुर-संग्राम। इस संग्राम में वही साधक विजय श्री पाता है, जो सद्-गुरु की कृपा के बल से पर्याप्त साधन कर लेता है और जो बुद्धिवादी गुरु-कृपा-रहित वा गुरु के आदेश

के विपरीत साधन करता है, वही पराजित होता है।

यहाँ कथानक के क्रमानुसार अधःपतन अर्थात् आसुरी सर्ग-समूह से पराजित होने की आशंका नहीं है, कारण सुरथ को प्राथमिक शिक्षा सर्वाङ्ग-पूर्ण रूप से दी गयी है। इसी से सुरथ की आत्मा का वैश्वानर-रूप तैजस्-रूप में परिवर्तित हो गया है। अभी माध्यमिक शिक्षा दी जा रही है, जिससे तैजस का सङ्गठन पूर्ण रूप से होगा और वह प्राज्ञ-रूप का हो जायगा।

यहाँ यह ध्यान रखना है कि माण्डूक्य श्रुति के मत से उक्त तीनों वैश्वानर, तैजस् और प्राज्ञ एक ही अवस्था-क्रमानुसार रूप हैं। तात्पर्य कि ये तीनों प्राज्ञ ही के रूप हैं। यथा जाग्रदवस्था में बहिःप्रज्ञ वैश्वानर कहाता है, स्वप्नावस्था में अन्तःप्रज्ञ तैजस् और सुषुप्त्यवस्था में चैतन्य-प्रज्ञ केवल प्रज्ञ के नाम से अभिहित है। फिर शिक्षा की बात जो कही गयी है, वह केवल सैद्धान्तिक मौखिक नहीं है। यह तो ज्ञान-यौगिक का प्रथमांशिक है। ज्ञान के परिपाचन के लिये क्रिया-योग की आवश्यकता अनिवार्य है। यह व्यावहारिक शिक्षा (इसका आज दिन परम अभाव है) भी सुरथ को दी गयी। इसी से उसको प्रत्यक्ष फल मिला। (इसका उल्लेख सप्तशती के अन्तिम भाग में है कि सुरथ को तीन वर्ष लगातार साधन करने पर इष्ट के प्रत्यक्ष दर्शन से वर प्राप्त हुआ।)

तैजस् आत्मा की मुख्य आराध्य देवी हैं तेजो-रूपिणी महालक्ष्मी। लक्ष्मी 'लक्षयति ददाति इति लक्ष्मीः' की अपर संज्ञा है विमर्श-शक्ति, जो प्रकाश-शक्ति का दूसरा रूप है। ऐसा है ज्ञान-योग-क्रम में। क्रिया योग-क्रम में यही प्राण तैजस्-कुण्डली कहलाती है। भक्ति-योग-क्रम में यही है जगज्जननी सुतरां हमारी माँ। यही है हमारा सर्वस्व, सभी प्रकार के भयों वा तापों से रक्षा करनेवाली हमारी बुद्धि-रूपिणी। यह हैं तो बुद्धि-रूपिणी, पर बुद्धि के परे बुद्धि-दात्री भी हैं। इन्हीं के सम्बन्ध में गीतोक्ति है—'यो बुद्धेः परतस्तु सः।'

यही तत्व समझना है कि इसी की प्रसन्नता अभ्युदय का मूल है। प्रकृत प्रसन्नता है इस सिद्धान्त के साथ मां का ग्रहण करना वा उसको अपने हृदय में ले आ रखना। प्रसन्न 'प्र + सद् गमने क्त' का अर्थ ही है प्र=प्रकृष्ट रूप से + सन्नः=गतः= मिला हुआ। तभी यह जिस मात्रा में हमारे हृदय में आ बसती है, उसी मात्रा में हमारी बुद्धि प्रस्फुटित होती है। इसी से इष्ट लाभ है। यह सिद्धान्त सर्व-मान्या गीता का भी है, जो इस उक्ति से सिद्ध है :—

तेषां सतत-मुक्तानां भजतां प्रीति-पूर्वकम्।
ददामि बुद्धि-योगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(१०।१०)

अर्थात् उनको ही मैं वैसी बुद्धि देता हूं (देती हूं) जो उस युक्ति से मुझको अर्थात् सत्य को प्राप्त करते हैं और जो मुझमें ही सतत रहकर मेरा प्रीति-पूर्वक भजन अर्थात् मेरे भाव का सम्वर्धन करते रहते हैं।

अस्तु, अब युद्ध के सम्बन्ध में भी किञ्चित् विवेचना आवश्यक है। इस प्रकार के सभी देवासुर-संग्राम साधन-समर यद्वा समर-साधन ही हैं। समर नाम है समता वा साम्य भाव को देनेवाले का। 'समं राति ददाति इति समरः।' समता है विषमता की विपरीत वस्तु। विषमता को जो दूर करे, वही है प्रकृत 'समर' पद वाच्य। साधन नाम है युक्ति का वा जिस-जिससे सहायता मिले। साधन एकाधिक प्रकार का है। यथा अपना साधन वा स्वकीय साहित्य पदार्थ, दूसरों का बल वा सहायता। फिर यह साधन भी मुख्यतः दो प्रकार के हैं—प्राण-बल और मानसिक बल, जिसका एक प्रकृष्ट भेद है आत्म-बल। इन साधनों के बल पर साधक साधन अर्थात् प्रयत्न कर सिद्धि पाता है, परन्तु यह ध्यान में रखना उचित है कि समर साधन में दूसरे के भरोसे नहीं रहना पड़ता है।

लोग कहते हैं कि बिना सद्गुरु की कृपा से सिद्धि नहीं, पर गुरु की कृपा की प्राप्ति भी अपने साधन-बल पर होती है। गुरु मार्ग दिखानेवाला है।

चलना पड़ता है हमों को। अगर यह कहें कि समर्थ गुरु वैधी दीक्षा द्वारा वा अन्य प्रक्रिया के द्वारा शिष्य में कुण्डली का उत्थान कर देगा, तो इसमें भी शिष्य को साधन वा प्रयत्न द्वारा अपने को तद्-योग्य बना रखना होगा, नहीं तो नहीं होगा। ज्ञान-योग-क्रम में भी गुरु के ज्ञान देने ही से विशेष कुछ प्राप्य नहीं। ज्ञान का परिपाचन तो शिष्य को स्वयं निदिध्यास के द्वारा करना है। इसी से गीता का भी निर्देश है कि हम स्वयं अपने मित्र हैं और शत्रु भी—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
(६।५।)

पर यह नियम भक्ति-योग-क्रम में लागू नहीं है। यही भक्ति-मार्ग की विशेषता है। इसी से गीता का सार उपदेश है कि सभी मार्गों को छोड़ केवल एक मुझको पकड़े रहो। फिर तो तुम्हारा बेड़ा पार है। पर ऐसा करना क्या सरल है? यह अनुराग जन्म-जन्मान्तरों के साधनों का पर्यवसान-फल है। इस प्रकार भी प्रयत्न की मुख्यता सिद्ध है।

इसी साधन का फल है कि आसुरी सर्गों के उत्पातों को साधक की जगी हुई प्राण-शक्ति महिष-मर्दिनी ने अनायास दूर कर दिया—

सापि देवी ते स्वानि शस्त्राण्यस्त्राणि चण्डिका।
लीलयैव प्रचिच्छेद निज शस्त्रास्त्र-वर्षिणी॥

इतना ही नहीं। अब साधक के प्रत्येक निःश्वास से देव-सर्ग निकलने लगे और असुर-सर्ग का संहार करने लगे। यह उक्ति भी कि निःश्वास से असंख्य देव-गण वा देव-सर्ग निकले रहस्य-गर्भ है। निःश्वास नाम है श्वास-क्रिया की रहितावस्था अर्थात् कुम्भ-कावस्था, जब श्वास न लिया जाता है और न फेंका ही जाता है। यह प्राणायाम-प्रक्रिया का मुख्य अङ्ग है, जिससे प्राण-शक्ति का सम्वर्धन होता है।

इस प्रकार इस उक्ति से बोध है कि साधक के प्राण-शक्ति के सम्वर्धन से दिव्य चेतनायें हुईं वा होती हैं। यह हुई क्रिया-योग-क्रम की बात। ज्ञान-योग-क्रम में प्राणों की स्थिरता से मन स्थिर होता है, और मन की एकाग्रता से मानसिक शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं वा बढ़ती हैं, जिससे विक्षेप-समूह नष्ट होते हैं। इन प्राण-विकारों को वा मन के विक्षेपों को रूपकोक्ति में असुर-सैन्य कहा गया है। प्रकारान्तर में ये उपसर्ग हैं, जो सहकारी दैवी सर्गों से नष्ट होते हैं।

इन उपसर्गों के नष्ट हो जाने पर आसुरी सर्ग गण एक-एक कर आये। इन सबके भी प्रहार निष्फल कर दिये गये, पर इतने ही से काम नहीं बना। प्रहार-कर्ता-गण तो रह गये। ये अभी नहीं, तो कभी पुनः आक्रमण करेंगे ही। ये बीज हैं कर्म-विपाकाशय के बीज (योग-दर्शन के मत से)। इनका दहन आवश्यक है अन्यथा जब ही सुयोग पायँगे, तभी फिर अंकुरित पल्लवित होकर उत्पात करेंगे। ये बीज कैसे दग्ध होते हैं, इसका उल्लेख नहीं है क्योंकि यह गुरु-मुख से ही सीखा जा सकता है।

अस्तु, चिक्षुर आदि का आक्रमण रहस्य-मय है। सुतरां, इनके आक्रमण एवं नाश का विवरण संक्षेप में देना उचित है। चिक्षुर का प्रथम आक्रमण हुआ देवी के वाहन सिंह पर। इससे यह बोध है कि साधक की भित्ति समग्र धर्म पर आघात किया जाता है। गुणी को गुण से अर्थात् धर्मी को अपने धर्म से च्युत करने का यही आदि प्रयत्न है। इस प्रयत्न के निष्फल हो जाने पर चिक्षुर ने देवी का वाम भुजा पर तलवार का प्रहार किया। बाह्य वा स्थूल दृष्टि-कोण से देखने पर यह अयुक्त है। कारण योद्धा का दाहिना हाथ ही युद्ध में अधिक और मुख्य कार्य करता है। प्रतिद्वन्द्वी इसी को बेकार करने का प्रयत्न करता है, न कि बाँय हाथ का, जो प्रायः केवल रक्षा करता है? इसका समाधान यह है कि इस वाम भुजा पर के आक्रमण से वाम-भाग स्थित हृदय पर के आक्रमण का तात्पर्य है। अगर यह स्थूल युद्ध रहता, तो दक्षिण भुजा पर ही प्रहार होता।

चिक्षुर के दोनों प्रहार निष्फल हुए। तात्पर्य कि साधक को न धर्म-च्युत ही कर सका और न उसके हृदय में ही विकार उत्पन्न कर सका। यहाँ यह उल्लेख्य है कि पाश्चात्य मत है कि केवल

मस्तिष्क है चैतन्य-स्थान अर्थात् वहीं सभी भावों का अनुभव होता है, पर हमारे ऋषियों का यह सिद्धान्त है कि शरीर में जहाँ कहीं स्नायु-केन्द्र हैं, वहाँ भी विशिष्ट-विशिष्ट भावों का अनुभव होता है। (सुनने में आता है कि अब पाश्चात्य लोग भी हमारे इस प्राचीन सिद्धान्त को मानने लगे हैं।)

अस्तु, प्रथम खड्ग-प्रहार निष्फल हुआ अर्थात् आत्माकार-वृत्ति का खण्डन नहीं हुआ, तो चिक्षुर ने दूसरा प्रहार भाले का किया। शूल के प्रहार से तात्पर्य है आसुरी वृत्तियों को साधक के हृदय में चुभा देना। देवी अर्थात् देवी-भाव-सम्पन्न साधक ने उसी प्रकार के दैवी शूल-बल से उसको निष्फल कर दिया। साथ ही चिक्षुर भी विनष्ट हो गया।

इसके बाद चामर हाथी पर सवार होकर लड़ने आया। गज है शब्द-कारक पदार्थ। इस प्रकार इस उक्ति से यह तात्पर्य है कि पूर्वोक्त आसुरी सर्ग के द्योतक चिक्षुर के नष्ट होने पर क्षणिक शब्द-कारक कार्य का आगमन होता है। साधक को यह गर्व हो उठता है कि मैंने पहिले बाजी मार ली। परन्तु दूर-दर्शी साधक इस मद को भी नष्ट कर आगे बढ़ते हैं। यह मद मारा जाता है साधक के धर्म से। इसी से उक्ति है कि सिंह ने थप्पड़ से चामर को मार गिराया।

फिर उदग्र आता है। यह मारा जाता है शिला (पत्थर के ढेले) और वृक्ष के प्रहारों से। यह उक्ति भी रहस्य-गर्भ है कारण भगवती के पास तलवार, बर्छे आदि अस्त्र-शस्त्र थे ही। फिर ढेले और वृक्ष की शाखाओं अर्थात् लाठियों से काम लेना अनर्थक है। इसका समाधान यह है कि 'शिलन्ति इति शिलाः', शिला से सुशील स्वभाव-वृत्ति का बोध है, जिससे औद्धत्य नष्ट होता है। और वृक्ष-उणादि से साधित शब्द वृक्ष का अर्थ है काटनेवाला। ज्ञान-योग-क्रम में वृक्ष है ज्ञान-वृक्ष। ज्ञान से ही औद्धत्य काटा जाता है।

पश्चात् कराल आता है। कराल है भय का उत्पादक सर्ग, जो अष्ट-पाशों में का एक पाश है। यह मारा जाता है दन्त और मुष्टि-प्रहारों से। मुक्कों से मारना तो किसी हद तक युक्त हो सकता है। यद्यपि इसमें कहा जा सकता है कि देवी के सभी हाथों में अस्त्र-शस्त्र थे, तो क्या इन अस्त्र-अस्त्रों को देवी ने फेंक दिया? अगर फेंक दिया तो क्यों? खैर, उस समय देवी निरस्त्र हो गयी होंगी। इस-लिये मुक्के का प्रहार किया, परन्तु दाँतों से काटना तो फिर भी किसी दशा में महा अयुक्त है।

वस्तुतः दन्त-दंशन-प्रक्रिया क्रिया-योग की है। यह जिह्वा सुतरां वाक्-सयम-प्रक्रिया है, जिससे प्राण का निरोध होता है और मन की एकाग्रता होती है। यह तुरन्त समझ में आता है कि दाँतों से अपनी जिह्वा दबा (भगवती काली जैसा) कर मन की कितनी एकाग्रता आती है। रही मुष्टिका के तल प्रहार की बात। यह भी कुण्डली उत्थान में की एक प्रक्रिया ही है। यह एक प्रकार की मुद्रा है, जिससे कुण्डली को नीचे से ठोकर मार-मार ऊपर उठाया जाता है। उठना है विकार का नाश। ज्ञान-योग-क्रम में मुष्टि-बन्धन से दृढ़ता का बोध है। तात्पर्य कि ज्ञान के दृढ़ प्रहारों से द्वैत-भाव-जन्य भय का नाश होता है। भक्ति-योग-क्रम में उपास्य में दृढ़ विश्वास से सभी प्रकारों के भयों का निवारण होता है।

फिर उद्धत, वाष्कल, ताम्र एवं अन्धक क्रमशः गदा, भिन्दिपाल और बाणों से मारे गये। उद्धत और वाष्कल का परिचय दे चुके हैं। ये दोनों क्रमशः गदा और भिन्दिपाल नामक आध्यात्मिक ज्ञान-योग-क्रम में और आधिदैविक (क्रिया योग-क्रम में) आयुध-द्वय हैं। पहिला वह आयुध है, जो उद्धत है, जो औद्धत्य को चूर्ण-विचूर्ण कर देता है। यह है एक विशिष्ट प्रकार का विवेक, जो जीव को उद्धत होकर असत्-मार्ग पर जाने से रोकता है। वाष्कल नष्ट होता है भिन्दिपाल से। यह वह मानसिक शक्ति है, जो सत् और असत् के भेद का पालन करती है। आंग्ल भाषा में इस मन-शक्ति को 'पावर आफ डिसक्रिमिनेशन' कहते हैं। यह षट्-विकारों के परि-णाम से जीव को परिचय करा कर अलग रखता है। ताम्र है निकृष्ट आकांक्षा-भाव 'तमु कांक्षायां + रक् उणादि' और अन्धक है अन्धा बनानेवाला आसुरी सर्ग। यह अन्धक जिस प्रकार ताम्र वा काम का सहकारी सर्ग है, उसी तरह क्रोध आदि सर्गों का भी

है। इसी से कामान्ध, क्रोधान्ध, लोभान्ध इत्यादि वाक्यों क प्रयोग है। ये दोनों नष्ट होते हैं शर-प्रयोग से अर्थात् ज्ञान शर के प्रयोग से। क्रिया-योग-क्रम में यह शरास्त्र है प्राणायामास्त्र। प्राणों के संयमन से स्वतः मन संयमन होता है, जिससे जीव न कामी होता है और न काम-क्रोध आदि से अन्धा वा ज्ञान-हीन ही होता है।

तब उग्रास्य, उग्र-वीर्य एवं महा-हनु का नाश हुआ यद्वा होता है। उग्र जिसका अस्य (मुख) हो, वह है उग्रास्य। यह है आध्यात्मिक ज्ञान का विरोधी कुतर्क। सभी जानते हैं कि कुतर्कियों का मुख वा वचन बड़ा ही उग्र होता है। आत्मा के अस्तित्व के खण्डक बड़े ही वाचाल वा उग्रास्य होते हैं। इनको कुतार्किक के बदले तार्किक भी कह सकते हैं क्योंकि इनका द्वैत-वादी सिद्धान्त है। ये ही बड़े उग्र-वीर्य होते हैं अर्थात् उग्र वा उद्भट विद्यावान् होते हैं। पर इनकी प्रकाण्ड विद्या भी विवाद के लिये ही है, न कि यथार्थ ज्ञान के लिये। इसी से उक्ति है कि विद्या खल में विवाद वा वितण्डा का साधन है। धन है मद का और शक्ति है पर-पीडन का। उसके विपरीत वे तीनों सज्जन में क्रमशः ज्ञान, दान और रक्षण के साधन हैं। ये अपनी विद्या का किस प्रकार दुरुपयोग करते हैं, यह उन नामी विद्वानों से प्रकट है, जो दैवी जगत के अस्तित्व का खण्डन करते हैं तर्कों के आधार पर। महा-हनु भी इसी कोटि के विरोधी सर्ग हैं। पर जिस तरह उग्रास्य से निम्न है उग्रवीर्य, उसी तरह महाहनु तीनों में निम्नतम है। यह है आधिभौतिक विकार का उत्पादक, जिससे जीव का सामान्य धर्म नैतिकता नष्ट होती है। तात्पर्य कि जहाँ उग्रास्य आध्यात्मिक विकार का उत्पादक है, वहाँ उग्रवीर्य और महाहनु क्रमशः आधिदैविक और आधिभौतिक विकार के उत्पादक हैं। ये तीनों नष्ट होते हैं त्रिशूल अर्थात् त्रिज्ञान से। इसी से उक्ति है कि त्रिनेत्रा देवी ने त्रिशूल से इन तीनों को मारा —

त्रिनेत्रा च त्रिशूलेन जघान परमेश्वरी।

अब यह त्रिज्ञान क्या है, इसकी विवेचना करनी है। दार्शनिक दृष्टिकोण से यह त्रिज्ञान है मातृ, मान और मेय ज्ञान। १ 'मातृ'-ज्ञान है मान करने-वाले का ज्ञान अर्थात् मैं कौन हूँ, कैसा इत्यादि का ज्ञान, २ 'मान'-ज्ञान है प्रमाण-ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान से हम किसी सत्य निष्कर्ष पर पहुँच पाते हैं और ३ 'मेय'-ज्ञान है उसका ज्ञान, जिसके पास हम जाना चाहते हैं अर्थात् हम जिसको पाना चाहते हैं, वह क्या है, उसके प्राप्त करने से क्या लाभ है, इत्यादि। अपने ज्ञान से हम शरीरस्थ उग्रास्य का नाश कर सकते हैं। 'मान'-ज्ञान से उग्रवीर्य का और 'मेय'-ज्ञान से महा-हनु का नाश कर सकते हैं परन्तु ऐसा हम तभी कर पाते हैं, जब हमारा त्रिज्ञान दैवी या दिव्य हो। इस त्रिज्ञान की शास्त्रीय संज्ञा है त्रिपुटी ज्ञान। प्रकारान्तर में इसको त्रिकाल-ज्ञान भी कह सकते हैं। तभी दर्शनों का एक यही उद्देश्य है कि हम कौन वा क्या थे, क्या हैं और क्या होंगे —इसका ज्ञान प्राप्त करना। इसकी प्राप्ति होती है मेधस् गुरु से।

अन्त में सेनापति विड़ालासुर लड़ने आया। विड़ाल का परिचय पाठकों को हो चुका है। यह मारा जाता है तलवार से। विड़ाल है लोभ, जिसको प्रकारान्तर में काम भी कहते हैं। काम की उत्पत्ति है संग से—संगात् संजायते कामः'—गीता। सुतरां यह नष्ट होता है निःसंग से। निःसंग होना है अपने को किसी वृत्ति से दूर रखना। दूसरे शब्दों में सभी विषय वृत्तियों को काटने अर्थात् दूर रखने से निःसंग हो सकते हैं। संग है पाञ्च-तन्मात्रिक। सुनने से, स्पर्श से, देखने से, चखने से और सूँघने से। इन पाँचों का मूल है मस्तिष्क। इसको काटना है निष्क्रिय करना। यह प्राण-संयम (प्राणायाम) से होता है। ज्ञान-योग-क्रम में मनः-संयम वा मन के निरोध-योग से।

साथ ही दुर्द्धर और दुर्मुख शर-प्रहार से मारे गये वा मारे जाते हैं। दुर्द्धर है जीव की दुष्ट भाव की धारण करनेवाली चित्त-वृत्ति। मन पानी जैसा नीच-गामी है। यह मन की प्रकृति वा स्वभाव है। इस प्रकृति वा स्वभाव को परिवर्तन करने के लिये

उच्च कक्ष का संयम आवश्यक है। तभी मन की ऊर्द्ध गति होती है। इसी दुष्ट वृत्ति को वचन के द्वारा व्यक्त करनेवाला है दुर्मुख। तात्पर्य कि दुष्ट वचन बोलनेवाला ही प्रकृत 'दुर्मुख'-पद-वाच्य है। ये ज्ञान-शर से (ज्ञान-योग-क्रम में और प्राण शर से (क्रिया-योग-क्रम में) नष्ट होते हैं।

महिषासुर अर्थात् राग-द्वेष-रूपी महा-मोह के सातों सेनापति साधक का दैवी सप्त-शक्तियों के द्वारा नष्ट हो गये। अब महिष स्वयं रण-क्षेत्र में उतरा। सर्वप्रथम वह भसे के रूप में आया। साधक की दैवी सम्पत्तियों पर तुण्ड से, खुर से, दोलत्तियों से, पुच्छ से, शृङ्ग-द्वय से प्रहार करने लगा। इन प्रहारों से देवी-गण वा दैवी सम्पत्तियों पर आघात हुआ। इसके अतिरिक्त अपने प्रबल वेग से भी उक्त सम्पत्तियों को धराशायी किया अर्थात् नीचे दबाया। ये देवी-गण आत्मा-रूपिणी देवी की धर्म-शक्तियाँ हैं, जिनसे यह घिरी रहती है। इसी से ये परिषद् कहलाती हैं। फिर इनको प्रमथ 'दुष्टात् दुष्ट-भावात् प्रमथाः' भी कहते हैं। महिष ने इन सबको नीचे दबाया। इससे यह बोध है कि इनका ह्रास कर निष्क्रिय-प्राय कर दिया। तत्पश्चात महिष सिंह को नष्ट करने की प्राण-पण से चेष्टा करने लगा। आत्म-शक्ति प्राण-शक्ति-रूपिणी भद्रकाली जब देखा कि यह महिष तो अब बड़ा उत्पात कर रहा है, मेरी अमुख्य धर्म-शक्तियों को परास्त कर मेरी मुख्य धर्म-शक्ति-रूपी सिंह को भी, जो मेरा अधिष्ठान है, नष्ट करने पर तुला है, तो उसको बड़ा क्रोध हुआ। क्रोध हुआ इससे तात्पर्य है कि विशेष स्फुरत्ता-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। क्रोधी तो यह है ही। इसी से उसको 'चण्डी' वा 'चण्डिका' कहते हैं, जिसका अर्थ है कोप-वती। 'चण्डी' पद 'चडि कोपे' धातु से बना है। इसको ठेठ भाषा में बिगड़ैल कह सकते हैं। कारण यह अपने सूक्ष्मत्व-स्वभाव-वश थोड़ा सा भी व्यतिक्रम नहीं सह सकती।

यह कोप वा स्फुरत्ता नैसर्गिकी होने पर भी यहाँ सर्ग वा कारण-युक्त सर्गिकी है। यह है प्रति-क्रिया-रूपिणी, जिससे शक्ति बहुत बढ़ जाती है। फिर तो प्राण-शक्ति ने वा मनः-शक्ति ने महिष को पाश में बाँध लिया। क्रिया-योग-क्रम में यह पाश 'बन्ध' की संज्ञा में अभिहित है। बन्ध तीनों स्थानों पर हैं, जिससे तीन प्रकार के कहे गये हैं—१ मूलबन्ध, २ उड्डीयाण बन्ध और ३ जालन्धर बन्ध। विशद ज्ञानार्थ योग-कुण्डल्योपनिषद् द्रष्टव्य है। उक्त बन्ध से द्वितीय बन्ध अर्थात् उड्डीयाण बन्ध का बोध है, कारण यही माध्यमिक बन्ध है। इससे प्राण-शक्ति (साथ ही मनः-शक्ति) बाँधी जाकर दृढ़ वा बलवती हो जाती है। ज्ञान-योग-क्रम में यह है मनोबन्ध, जो स्वाध्याय-रूप निदिध्यास से होता है।

अब जब महिष-वृत्ति अर्थात् राग-द्वेष रूप महा-मोह बाँध लिया गया, तब यह सिंह-रूप हो गया अर्थात् केवल द्वेष वा हिंसा-रूप का हो गया। तात्पर्य राग और द्वेष में केवल राग ही बँधा रहा और द्वेष खुला रहा। अब ज्यों ही देवी इसको खड्ग से काटने लगी कि इसका भी रूप बदल गया और खड्ग हस्त पुरुष-रूप में आ लड़ने लगा। यह पुरुष यथार्थतः क्या है, इसकी विवेचना से पूर्व उक्त सिंह का परिचय आवश्यक है। सिंह धर्म-रूप है, पर यह सिंह धर्माभास-रूप है, जैसा कि भण्डासुर था। यह है अधर्म का धर्माभास अर्थात् अधर्म को धर्म-रूप समझना। यह महा भयानक शत्रु है कारण यह हम जीवों को अधर्म वा अकर्त्तव्य को धर्म वा कर्त्तव्य-जैसा बोध कराता है। (इसके ज्वलन्त दृष्टान्त वर्तमान के हम बुद्धि-वादी हैं।)

खड्ग-पाणि पुरुष से ज्ञान-खण्डक गुण-सम्पन्न गर्वी का तात्पर्य है। तन्त्रोक्त नर-बलि जो है, सो ऐसे ही दर्पी पुरुष की। नर का प्रधान गुण है दर्प। नर की बलि क्या देनी है, देनी है दर्प की बलि, यही है मूल सिद्धान्त। इस दर्पी का नाश होता है शर अर्थात् ब्रह्म-शर के प्रहार से अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान से। यही प्राण-शर है प्राणायाम की ध्यानावस्था, जिसका सर्व-श्रेष्ठ रूप समाधि-अवस्था है कारण ध्यानावस्था में जितना प्राण का आयमन (स्थिरता)

रहता है, उसका बारह गुना समय ही समाधि कहलाता है। इस पर महिष-सर्ग की महागज-सर्ग में परिणति होती है। यह सर्ग अह-मन्यता भाव-परक है। यही कारण है इस कल्पना का कि महिष रूप से सिंह-रूप, जिससे पुरुष-रूप, जिससे महागज-रूप होता है। संक्षेप में इस रूपकोक्ति का तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष का हिंसा रूप में आक्रमण है। फिर वही भाव अह-मन्यता-भाव में, जो पुरुष वा नर की अपनी एक विशेष लक्षणा है, परिणत हो आक्रमण करता है। यही पुरुष का अहम्मन्यता-भाव असफल होने पर केवल डींग हाँकनेवाला रह जाता है। इससे जब साधक नहीं डरता, तो अन्ततोगत्वा अपने असली रूप महिष वा महा मोह-रूप से आक्रमण करता है। यहाँ महिष-रूप से महा-मोह-रूपी राग-द्वेष के बीज का तात्पर्य है, जो अपने सप्त-महारथी अर्थात् अज्ञान की सातों भूमिकाओं के नष्ट होने पर भी, निराधार होकर भी, रह ही जाता है। यह तो भी साधन में बाधा डाला करता है।

यहाँ यह उल्लेख है कि शास्त्रों में जहाँ सप्त-ज्ञान भूमिकाओं को भूर्लोक, भुवर्लोक स्वर्लोक, महर्लोक, जन-लोक, तपो-लोक एवं सत्य-लोक कहा गया है, वहाँ सातों अज्ञान-भूमिकाओं को अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल कहा गया है। पुराणों की कथाओं से भी यह सिद्ध है। (कथा है कि महा-दानव मयासुर का लड़का महामाय ही — महामाया का, जिसका अर्थ महा-अविद्या लिया गया है, यह पुलिंगान्त पद महामाय है— अधोलोकों का राजा है।)

अस्तु, महिष अब अहङ्कार-रूप में आ लड़ने लगा। तात्पर्य कि साधक के हृदय को कलुषित करने लगा। ठीक ही है, साधक ने राग-द्वेष पर विजय पा ली। इससे उसमें अपनी विजय का गर्व हो आया। परन्तु बुद्धि-रूपिणी महामाया भगवती की कृपा से साधक को अपने इस दोष वा त्रुटि का अनुभव हो गया। इसका अब वह प्रतिकार करता है कि किस प्रकार इस मोह के पञ्जे से छुटकारा पाये। इसका एकमात्र उपाय है पुनः पुनः वा मुहुर्मुहुः पान। यह पान क्या है? यह क्या कोई विशेष औषधि का पान है वा स्फूर्ति लानेवाली सुरा है? नहीं, क्रिया-योग-क्रम में यह है प्राण वा प्राण-वायु का पान। इसी सिद्धान्त पर तन्त्र की उक्ति है—

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा पतित्वा धरणी-तले।
उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

अर्थात् पीकर, पीकर, फिर पीकर धरणी-तल पर गिर पड़ा। फिर उठकर पीकर जन्म-मरण से मुक्ति पाता है। यह एक विशिष्ट प्राण-योग (कुण्डली-योग) की एक उच्च कोटि की प्रक्रिया है, जो गुरु-मुख से ही ज्ञातव्य है। ज्ञान-योग-क्रम में यही महा-वाक्य 'सोऽहम्', 'तत्वमसि' आदि का रस-पान या भाव का हृदयङ्गम करना है। यह रस वा तत्त्व-ग्रहण की सीमा नहीं है। फिर भक्ति-योग-क्रम में महा-वाक्यों के बदले अपने इष्ट के नामामृत-पान का तात्पर्य है। इस नामामृत-पान के सद्यः फल का अनुभव उन्हीं भक्तों को होता है, जो विधि-पूर्वक अहर्निश नाम एवं गुण-कीर्त्तन करते रहते हैं। इसमें कितना आनन्द है, यह अवर्णनीय है। इस आनन्द-भाव की सूचक है यह उक्ति कि देवी महिषमर्दिनी हँसने लगी—

जहासारुण-लोचना।

यहाँ जो कहा गया है कि भगवती की आँखें लाल हो गईं, सो इस हेतु नहीं कि उन्होंने शराब पी ली अथवा उनको अधिक क्रोध हुआ। आँख लाल होती है बल-वीर्य की अधिकता से। प्राणायाम पर्याप्त मात्रा में करने से आँख स्वतः अर्थात् बिना अन्य कारण से लाल हो जाती है। ज्ञान-योग-क्रम में पर्याप्त मात्रा में आँख बन्द कर मनन करने से भी लाल हो जाती है।

भगवती दुर्गा अर्थात् दुर्गा-गत साधक अर्थात् ज्ञान-योग क्रम में अद्वैत-भावापन्न साधक, क्रिया-योग-क्रम में स्थिर-प्राण-साधक और भक्ति-योग-क्रम में निर्भरा-भक्ति-सम्पन्न साधक जब पान करता था, तब महिष खूब तर्जन-गर्जन कर रहा था। इससे ऐसा बोध है कि साधक में अहंकार-भाव की आँधी बह रही थी। ठीक भी है, पान-प्रक्रिया पूर्ण होने पर

ही तो महिष 'काबू' में आएगा। पान-प्रक्रिया जब संपूर्ण हो गई, तब साधक महिष-वृत्ति को पाँव तले दाब शिखा को पकड़ कण्ठ-प्रदेश में शूल का प्रहार करता है। हृदय में न कर कण्ठ में प्रहार करता है, इसमें यह रहस्य है कि हृदय धारणा वा भावना का स्थान है। कण्ठ है भाव-व्यक्ति का स्थान। सर्व-प्रथम जीव का लक्ष्य यह है कि किसी प्रकार के भाव (यहाँ आसुरी भाव) न रहें। इसी हेतु आसुरी भावों के उद्गम-स्थान मस्तिष्क (सिर) को ज्ञान-रूप असि से काट डाला जाता है। फिर व्यक्ति-स्थान कण्ठ का ज्ञान-शूल से अवरोध किया जाता है।

कथानक के शब्दार्थ से हम जानते हैं कि महिषासुर मारा गया पर यह रहस्यार्थ से सिद्ध नहीं होता। तात्पर्य कि यह महिष निष्प्राण नहीं हो सकता। यह अच्छी तरह वशीभूत कर लिया जाता है। यह गुण-त्रय के परिचय से सिद्ध है कि तामस आच्छादक शक्ति है, राजस् है उत्तेजक वा दीप्ति-कारक और सत्व है प्रकाशिका शक्ति। तामस् और सत्व इन दोनों गुणों को बढ़ानेवाला है राजस्। तामस् और सत्व बिना राजस् की सहायता से क्रिया-शील नहीं हो सकते। राग ही का दूसरा नित्य सम्बन्ध गुण है द्वेष। हम इसी गुण से एक वस्तु को पसन्द करते हैं और दूसरे को नापसन्द। इस महिष-द्योतित राग का वाञ्छनीय रूप है वह, जो सत्व-गुण का संवर्धन करता है और वह अवांछनीय है, जो तमोगुण वा अज्ञान को बढ़ाता है। सुतरां रजोगुण सत्व-गुण में अन्तर्निहित रहता ही है। अन्यथा सत्व-गुण की वृद्धि संभव नहीं है।

अवशेष में इतना और कहना है कि महिषासुर का बध एक ही बार नहीं हुआ है। तन्त्रशास्त्र की महाकाल-संहिता में इसका उल्लेख मिलता है कि महिष का तीन कल्प में तीन बार बध हुआ है। इसी से महिष-मर्दिनी भगवती दुर्गा के कल्पित तीन प्रकार के प्रधान ध्यान हैं।

रम्भ-नाम के कल्प में रम्भासुर का लड़का महिषासुर था। इसका बध हुआ महा-घोर-स्वरूपा अष्टादश-भुजा वाली उग्रचण्डा-संज्ञिका दुर्गा से। दूसरी बार नील-लोहित कल्प में यह षोडश भुजा-वाली दुर्गा से मारा गया। इनकी संज्ञा है महामाया भद्रकाली। तीसरी बार श्वेत-वाराह कल्प में यही महिषासुर दश-भुजी ललिता-संज्ञिका कात्यायनी दुर्गा से मारा गया। इसी से शारदीय पूजा के तीन प्रकार के कल्प हैं--(१) प्रथम कल्प है एक पक्ष वा पन्द्रह दिनों का, आश्विन कृष्ण नवमी से लेकर आश्विन शुक्ल नवमी तक, (२) आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक नौ दिनों का और (३) तीन दिनों का सप्तमी, अष्टमी एवं दशमी। (मिथिलाञ्चल में द्वितीय कल्प और वंग देश में तृतीय कल्प का प्रचलन है।)

कहा गया है कि महिषासुर उत्पन्न हुआ वल्कि होता है रम्भासुर से। जिस प्रकार महिषासुर कोई जीव नहीं है, है आसुरी सर्गों का प्रधान महा-मोह, उसी प्रकार रम्भासुर कोई जीव नहीं है। यह है प्राणों वा मन का कुस्पन्दन जनित कुरव। 'रम्भ'-पद 'रभि शब्दे' की धातु से उत्पन्न होता है। स्पन्द (स्पन्दन) नाम गति का है। प्राण और मन दोनों की गतियाँ हैं। इन गतियों में जब विषमता आती है, तभी कुरव अर्थात् कुत्सित रव वा नाद होने लगता है। इसी रम्भ वा कुरव का परिणाम है विकार वा मोह। यही है महिष की उत्पत्ति। इसी हेतु महिषासुर का रम्भासुर से जन्म लेना एक ही बार लिखा, दूसरी बार वा तीसरी बार नहीं।

इस सम्बन्ध में एक और विषय भी उल्लेखनीय है। यद्यपि यह मार्कण्डेय पुराण में नहीं कहा गया है, तथापि तन्त्रशास्त्र के एक प्रामाण्य ग्रन्थ महाकाल संहिता में कहा जाने से माननीय है। यह कोई साधारण उक्ति नहीं है। रहस्यार्थ के विचार से इसका महत्व ज्ञात होता है कि इसके बिना महिषासुर के बध का रहस्य-ज्ञान अपूर्ण रह जाता है। कथानक यह है कि महिषासुर ने भगवती महामाया से तीन वरों की याचना की—

(१) सौम्यमूर्त्ति से मेरा बध हो, (२) मेरे प्राण-युक्त सिर पर तुम्हारा एक पैर सर्वदा रहे और (३) तुम्हारे सभी यज्ञों में मुझे भाग मिला

करे। ❀

प्रथम प्रार्थना का रहस्यार्थ है सौम्य साधना के द्वारा मेरे सर्गाण (बीज) का नाश हो। कारण आदि में जो इसका बध हुआ था, वह उग्रचण्डा की उग्र साधना से। अब तो संसार के जीवों में यह बल नहीं कि उस प्रकार की घोर साधना करे।

फिर यह कैसी बात कि मुझे मारो, पर मैं जीवित रहूँ !! और मैं जीव-द्वेषी होने पर भी यज्ञ में भाग पाऊँ !! ऐसी आश्चर्य-जनक उक्ति महिष के वध के सम्बन्ध में न मार्कण्डेय पुराण में और न श्रीदेवी महा-भागवत में ही पायी जाती है। केवल यही उक्ति है कि इसका सिर महा-असि से काट गिराया गया। फिर उसके सिर पर भगवती पैर कैसे रखे है ?

जैसा कि पूर्व कहा गया है, यह महिष न मरे सकता है, न मारा ही जा सकता है। जब तक गुण-मय जीव है, तब तक यह रजो-गुण-स्वरूप महिष रहता ही है, पर सिद्ध साधक के पाँव तले (वश में) और असिद्ध साधक में इन्द्र वा हृदयेश्वर होकर। तब रही यज्ञ के भाग लेने की बात। यह भी इससे स्पष्ट है कि यज्ञ अर्थात् प्राण-साधन वा आत्म-साधन आदि क्रियाओं में इसकी अर्थात् सम्वर्धन-शक्ति की आवश्यकता रहती ही है। यही है महिष का यज्ञ-भाग का लेना।

महिषासुर-वध-लीला का यह एक प्रकार का रहस्य है। इसी की शिक्षा सुरथ को दी गयी एवं सभी मनीषी साधक पाते हैं। यह पढ़ने मात्र की वस्तु नहीं है। इसके अनुसार साधन भी करना उचित है। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' पढ़ना है श्रवण, वाच्यार्थ एवं रहस्यार्थ समझना है मनन और फिर इष्ट-साधनार्थ प्रयत्न करना है निदिध्यास।

❀ एकं सौम्याकारा भूत्वाऽस्मिन् जन्मनीश्वरि।
त्वं मां वधिष्यसि त्राण-हेतोरध्वर-भोजिनाम्॥
द्वितीयं ते मच्छिरसि वाम-पादाम्बुजं सदा।
स्थास्यति प्राण-युक्तस्य पश्यतस्त्वन्मुखच्छविम्॥
तृतीयं देवि यज्ञस्य भागं प्राप्नोमि कश्चन।
(महाकाल-संहिता)

शुम्भ-निशुम्भ-बध रहस्य

अब महर्षि मार्कण्डेय अपने शिष्य क्रोष्ट मुनि को, ऋषि मेधा ने जो सुरथ-समाधि को ज्ञान-योग, क्रिया-योग और इन दोनों योगों के मिश्र रूप भक्ति-योग की उच्चतम शिक्षा दी वा देते हैं, उसका उद्धरण करते हुए कहते हैं—

पूर्व समय शुम्भ-निशुम्भ नाम के असुरों ने शची-पति इन्द्र का यज्ञ-भाग और त्रैलोक्य का राजत्व छीन लिया। फिर इन दोनों ने सूर्य, इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, वह्नि आदि सभी देवताओं को अपने अधीन कर लिया, जो अपदस्थ हो स्वर्ग से निकल आये। दुर्दशा-ग्रस्त होने पर इन्हें भगवती अपराजिता महा-माया के पूर्व-प्रदत्त वर का स्मरण हुआ।

इस उक्ति से ऐसा बोध है कि पुरा अर्थात् जीव के सत्त्व-गुणापन्न होने के पूर्व साधन-अवस्था में सत्त्व-गुणाश्रित शुम्भ अर्थात् अहंकार अपने अनुज निशुम्भ वा ममता आदि आसुरी सर्गों से ग्रसित था। तब की यह कथा है। इसी काल में कृतोपासक साधक में शची-पति रहता है इन्द्र के बदले। यद्यपि इन्द्र, शक्र, शची-पति आदि एक ही व्यक्ति की संज्ञायें हैं, पर भिन्न गुण के आधार पर।

शची-पति का अर्थ है वाक् (शचति इति शचिः) का पति वा शक्ति। प्रकरण के अनुसार तत्-तत् विशिष्ट गुणाधार संज्ञा का प्रयोग है। यहाँ शची-पति इस तृतीय चरित का नायक है। (प्रथम चरित का नायक नभ्य पुरुष ब्रह्मा अर्थात् पश्यन्ती वाक्-पुरुष और द्वितीय चरित का नायक है इन्द्र वा मध्यमा-वाक् पुरुष।) यह शची-पति वैखरी वाक्-शक्ति पुरुष है। इससे यह बोध है कि प्रथम चरित में मन का साधन, दूसरे में प्राण-साधन और इस तीसरे में वाक्-साधन की शिक्षा है।

हम जीवों की शची-शक्ति वा वाक्-शक्ति जब राज-योग साधन के द्वारा ज्योतिर्मय होती है, तभी हम सत्व-गुणी होते हैं, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार प्रथम चरित में भक्ति-योग की प्रधानता कही गयी है और द्वितीय में क्रिया-योग की, उसी प्रकार इस चरित में, जिसको उत्तम वा सर्व-श्रेष्ठ कहते हैं, ज्ञान-योग की प्रधानता ही कही है। परन्तु इतना समझना है कि चूँकि तीनों योग अविना-भाव-सम्बन्ध में ग्रथित और अन्यान्याश्रित हैं, इन तीनों की पृथक्ता हो नहीं सकती। जिस प्रकार भक्ति-योग-क्रम में क्रिया और ज्ञान सन्निहित हैं और क्रिया-योग-क्रम में भक्ति-योग तथा ज्ञान-योग, उसी प्रकार ज्ञान-योग-क्रम में भक्ति और क्रिया सन्निहित हैं।

अब यह देखना है कि उक्त शची-पति को अपदस्थ करनेवाले शुम्भ, उसके अनुज निशुम्भ और इनके सहकारी रक्त-बीज, धूम्र-लोचन, चण्ड-मुण्ड और सुग्रीव यथार्थतः कौन हैं। क्या ये जैसा कथा-वाचक-गण कहते हैं और जैसा चित्रों में दिखाया जाता है, बड़े विकट रूपवाले मनुष्य-भक्षी जीव हैं? नहीं, ये जीव नहीं हैं। ये हैं हम मनुष्यों में ही रहनेवाली राक्षस-वृत्तियाँ।

इनको रूपकोक्ति में राक्षस इस हेतु कहा गया है कि इन आसुरी वृत्तियों से अपनी रक्षा करनी चाहिये। फिर इनको दिति के वंशज दैत्य भी कहते हैं। कारण ये हमारी अद्वैत भावना को खण्डित करनेवाले हैं। फिर इनको असुर भी कहते हैं। कारण ये हमारे ज्ञान के विरोधी हैं। सुरत्व के रहितत्व को असुर कहते हैं। सुर 'पुर प्रकाशे + कः=सुरः' का अर्थ है प्रकाशक सुतरां असुर 'प्रकाश-विरोधी रहितो वा असुरः' ज्ञान-विरोधी वा ज्ञान-रहित वा तम है। शुम्भ-निशुम्भ आदि उच्च कोटि के आसुरी सर्ग-गण हैं क्योंकि ये भूतात्मा के नहीं,

तैजसात्मा के विकार-रूप हैं।

आसुरी भाव केवल तमोगुणाश्रित वा रजोगुणाश्रित ही नहीं है। यह सत्त्व-गुण में भी सन्निहित रहता है। तीनों अवस्थाओं में इन आसुरी सर्गों के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि अहंकार, जिसको आसुरी सर्गों का राजा वा प्रधान मानते हैं, तीन प्रकार का है। प्रथम अहंकार भाव, जो तमोगुण-प्रधान है, वह हमको इस भ्रान्ति में डालता है कि हम शरीरामात्र हैं। इस भाव में आत्मा का स्थान नहीं है। अगर है भी तो यत्-किञ्चित गौण रूप का। द्वितीय अहंकृति जो राजस् भावापन्न है, वह हमको सकीर्ण-रूप के आत्म-ज्ञान का परिचय देती है। तात्पर्य कि इस कारण हम ऐसा तो समझते हैं कि शरीर रूप नहीं आत्म रूप हैं, पर हैं समष्टि आत्मा से पृथक्। तृतीय है परमा अहं-कृति, जिससे हम अपने को सर्व-मय वा ब्रह्म-मय समझते हैं। इसमें आत्म-रूप का असीम क्षेत्र है। यह सिद्धान्त श्रौत है (देखिये महोपनिषत्)। अस्तु, इनका परिचय है—

(१) शुम्भ—'शुम्भ हिंसायां भावे घञ्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'शुम्भ'-पद का अर्थ है आत्म-घाती भाव। श्रुति की उक्ति है कि द्वैत-भाव-सम्पन्न जो अह-कृति है, वही आत्मघ्न है 'आत्मघ्न द्वैत-भाव-सम्पन्न अहंकारः।' फिर यदि इसी 'शुम्भ'-पद की व्युत्पत्ति 'शुनभ्' धातु से लें, तो इसका अर्थ आत्म-दाप्त-कारक है। तात्पर्य कि यह वह सात्विका अहं-कृति है, जिससे आत्म-दोप्ति होती है। दूसरे शब्दों में इस अहं-कृति को राज-यौगिक अहं-कृति कह सकते हैं। यह भी लय-योग का सिद्धि होने पर दूर हो जाता है। तभी असंवेदन-अवस्था वा निर्विकल्प-समाधि होती है।

(२) निशुम्भ—यह शुम्भ का अनुज सहोदर कहा जाता है। ठीक ही है क्योंकि एक ही 'अस्मत्' पद से बने 'अहं' एवं 'मम' पद-द्वय हैं। शब्द-व्युत्पत्ति के अनुसार 'अहं' का अनुज 'मम' पद तो है ही, भाव के अनुसार भी अनुजत्त्व सिद्ध है कारण जहाँ अस्मिता-भाव है, वहाँ ममता भी है। यह सम्बन्ध अविना-भाव-सम्बन्ध है, ऐसा स्वतः सिद्ध है।

(३) रक्त-बीज—'रक्तमनुरागः, बीजं कारणम्। रज्यते अनेन इति रागः कामः।' यह काम का द्योतक पद है। काम वा मनोरथ अपार वा अनन्त है क्योंकि इसकी समाप्ति वा अन्त नहीं है 'मनोरथाणां न समाप्तिरस्ति'। काम सफल हो वा असफल, इसका अन्त नहीं है। असफल वा अपूर्ण काम का तो अन्त है ही नहीं। सफल वा पूर्ण काम का भी अन्त नहीं है। एक प्रकार का काम पूर्ण होता है कि बस दूसरा तुरंत उसी स्थान पर उग उठता है। यथा लक्ष की कामना पूर्ण हुई कि दश-लक्ष की, फिर इसकी भी पूर्ति पर कोटि की कामना आती है। फिर अपूर्ति की दशा में वह नहीं मिला, तो यह मिले, ऐसा भाव बना ही रहता है। परन्तु कब तक ? जब तक इसका आधार अर्थात् जिससे यह उत्पन्न होता है, उसका नाश नहीं होता। यह है संग। 'संगात् सञ्जायते कामः।' यही रक्त-बीज के वध का कथानक है। यह दूसरे शब्दों में, ऐसा कहा जा सकता है कि रक्त-बीज वा काम-बीज है सविकल्पक मन। इसकी पर्यायवाचक संज्ञा है सम्वित्।

(४) धूम्र-लोचन—यह लक्षणाधार संज्ञा है सही, पर इस धुयें के रङ्ग की आंख की लक्षणा का वाच्यार्थ ग्राह्य नहीं है। धूम्र का अर्थ है आवरण-कारक पदार्थ और लोचन का अर्थ है ज्ञान वा मानसिक दृष्टि। ज्ञान है अग्नि-रूप और जिससे इसका आवरण हो अर्थात् ढँक जाय—यही प्रकृत 'धूम्र-लोचन'-पद-वाच्य है। यह है आलस्य, जिसके अनकानेक उपसर्ग हैं। यथा संशय, प्रमाद इत्यादि। इसकी दार्शनिक वा वैदान्तिक पर्यायवाचक संज्ञा है लय। लयावस्था है विमुग्धावस्था, जिसको स्तब्धावस्था भी कहते हैं। यह विघ्न-चतुष्टय का प्रथम विघ्न है—लय, विक्षेप, कषाय एवं रसास्वाद। यह है चित्त-वृत्ति की निद्रावस्था, जो अखण्ड वा अद्वैत-भाव से रहित है—

लयस्तावदखण्डवस्तत्वनवलम्बेन चित्त-वृत्तेर्निद्रा।
वेदान्त-सार।

(५)+(६) चण्ड+मुण्ड—इसका अर्थ है क्रोधी। सब वस्तुओं, सब भावों के दो रूप हैं—एक उपादेय वा वाञ्छनीय और दूसरा हेय वा अवाञ्छनीय। यथा अहन्ता भाव का उत्कृष्ट रूप है परा-हन्ता, जिसमें इदन्ता भाव सन्निहित नहीं है। मन का उपादेय रूप है पर-मन, जिसमें संकल्प-विकल्प नहीं रहता है। राग का उत्कृष्ट रूप है अनुराग वा भक्ति, जिससे परम पद की प्राप्ति होती है। इसी तरह कोप का भी उत्कृष्ट रूप है वह, जो तनिक सा भी प्राण की मलिनता को सहन नहीं कर सकता। इसी से भगवती दुर्गा की एक संज्ञा है चण्डी (चण्ड का स्त्री-लिंगान्त-पद)। चण्ड कोप का वह निकृष्ट रूप है, जो हममें उग्रता उत्पन्न कर मन को चञ्चल अर्थात् विवेक-हीन कर देता है। इससे दर्प की उत्पत्ति होती है, जिसका द्योतक है मुण्ड। 'मुडि खण्डने मुण्ड' का अर्थ है धर्म-सीमा का खण्डन वा उत्क्रमण करनेवाला। शांकर गीता-भाष्य में भी दर्प की यही परिभाषा है—

दर्पो नाम हर्षान्तर भावी धर्माति-क्रम-हेतुः।
हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममति-क्रामति॥

मुण्ड-सर्ग चण्ड-सर्ग से उसी प्रकार सम्बद्ध है, जिस प्रकार मधु-सर्ग से कैटभ-सर्ग है।

(७) सुग्रीव—यह रामायण का सुग्रीव नहीं है। तात्पर्य कि जिस भाव का रूपक रामायण में लिया गया है, उस भाव का द्योतक यह सुग्रीव-पद नहीं है। सुग्रीव से मधुर वचन बोलनेवाले का बोध है। दूत का यह प्रधान गुण है। दूत की मुख्य उपयोगिता है परिग्रह में भी। दूत केवल सम्वाद-वाहक ही नहीं। यह कार्य-साधन की प्रथम भूमिका अपनी वाक्-चतुरता से तैयार करता है। वाक्-चतुरता से उत्कृष्ट साधन की भी भूमिका तैयार होती है और निकृष्ट की भी। यहाँ निकृष्ट की ही तैयारी की बात है। तात्पर्य कि साधक की अन्तिम वा उत्तम साधना में विघ्न डालनेवाला सुग्रीव है। यह सुग्रीव वा परिग्रह-भाव को दूर भगाना है विघ्नोत्सारण, जिसको करके ही पूजा अर्थात् साधन आरम्भ होता है। इसका कारण यह है कि ब्रह्म-विद्या का साधक विषय-परिग्रह का त्याग किये बिना साधन में सफल नहीं हो सकता है।

अस्तु, जिस प्रकार मध्यम चरित में देवासुर-संग्राम की अवधि का उल्लेख है, उस प्रकार इस संग्राम की अवधि का उल्लेख नहीं है। क्यों? यस्मात् शुम्भ-निशुम्भ बिना युद्ध किये ही महिष के नियन्त्रण होने पर स्वतः उस स्थान पर अधिष्ठित होते हैं। तात्पर्य कि साधक में जब राजस भाव नियन्त्रित हो जाता है, तो सात्विक भाव स्वतः आ जाता है। अब प्रश्न है यह कि सत्व-गुणावस्था में आसुरी भाव है कि नहीं। एक सिद्धान्त के अनुसार कहा जाता है कि सत्व-गुणावस्था निर्दुष्ट है अर्थात् इसमें कोई दोष अर्थात् आसुरी भाव नहीं है, पर सूक्ष्म विचार से यह सिद्ध नहीं है। कारण जीव के परम वा अन्तिम लक्ष्य की सिद्धि जब तक नहीं है, तब तक वह सत्व-गुण से भी बद्ध रहता है। इसी से जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का उपदेश है—

त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन—गीता।

अर्थात् वेद वा ज्ञान त्रिगुणाश्रित हैं। इस हेतु गुणातीतावस्था में जाओ अर्थात् असम्वेदनावस्था में जाओ, जब किसी प्रकार का ज्ञान (सम्वित्) नहीं रहता। यह उपदेश अर्जुन 'अर्ज+उनन् उणादि' अर्थात् विदेह-मोक्षाकांक्षी के लिये है।

'असम्वेदन' पद योगवासिष्ठ है। यही है योग-दर्शनोक्त असंप्रज्ञात वा निर्विकल्प समाधि। योग-वासिष्ठ निस्त्रैगुण्य के सम्बन्ध में ऐसा कहता है—

त्रिविधं तु परित्यज्य रूपमेतन्महामते।

अब देखना है कि इस त्रिविध के परित्याग का निर्देश इस हेतु है कि सर्व-श्रेष्ठ सत्व-गुण दैवी सर्गात्मक वा दैव भावापन्न है। फिर भी यह सङ्कल्पात्मक है ही—'सत्व-रूपो हि संकल्पो धर्म-ज्ञान-परायणः।'

सुतरां सत्व-गुणापन्न योगी-गण भी प्रबुद्ध नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि ये भी विपश्चित धारणा वाले नहीं हैं। प्रसंग-रूपान्तर से वा आलङ्कारिक भाषा में प्रबुद्ध कहे जाते हैं, यथार्थतः नहीं। ऐसा योग-वासिष्ठ भी कहता है—

प्रबुद्धाः कथिता ये ते योगिनस्ते मयानघ।
प्रसग-रूपान्तरतो न प्रबुद्धा विपश्चितः॥

इस प्रकार सिद्ध है कि चूँकि सत्व-रूप धर्म-परायण होने पर भी संकल्पात्मक होने के कारण बन्धन का कारण है। सुतरां प्रकृत 'योग'-पद-वाच्य है असम्वेदन योग क्योंकि यह अकृत्रिम योग है—'अवेदन-विदुर्योगं चित्त-क्षयमकृत्रिमम्'—योग-वासिष्ठ। इसमें विपश्चित धारणा है ही नहीं। इस प्रकार सिद्ध है कि सत्व-गुणात्मक आसुरी सर्गों से युद्ध नहीं होता। यह भी उत्कृष्ट रूप का ही सही, पर है विकार, जिसके साथ साधक को समर करना पड़ता है। इसकी कथा वा वर्णन आगे है। इसके निमित्त क्या करना है, वह कहा जाता है—

सर्व-प्रथम साधक को साध्य और साधन में दृढ़ वा अटल विश्वास रखना है। दृढ़ विश्वास के न रहने से साधन में प्रवृत्ति ही नहीं रह सकती। कर्म का आधार विश्वास है। कर्म करने से ही फल की प्राप्ति है। इसी से कहा जाता है—'विश्वासः फल-दायकः।' विश्वास और फल ये दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं और इन दोनों में पूर्व कौन और पश्चात् कौन, इसका भी निर्णय कठिन है। क्योंकि विश्वास से फल और फल से विश्वास—ये दोनों बातें हैं। आदि में ब्रह्मा जैसा विश्वास था कारण फल का, पर अब फल से विश्वास है। इन्द्रादि देव-गण को महिषासुर के वध-रूपी फल के मिलने से विश्वास होता है महामाया की आराधना में। इसी से देव-गण कृत जगदम्बा-स्तुति है, जिसको 'स्मार्त देवी-सूक्त' कहते हैं।

यहाँ इतना उल्लेखनीय है कि भगवती महा-माया, जिसका यथा-साध्य परिचय दे दिया गया है, साध्य एवं साधन दोनों है। भगवती, जो साध्य है, वह असंख्य रूपों में, एक ही रूप में नहीं। तात्पर्य कि साधक अपने साध्य के रूप की कल्पना से निर्णय करता है। उसका जिस रूप में अनुराग होता है, उसी रूप में भजता है। और वही साधन भी है। इससे ऐसा तात्पर्य है कि उसी एक साधन के द्वारा अन्य अन्य साधनों की प्राप्ति होती है। सर्व-प्रथम वही ऐसी साधन-बुद्धि की देनेवाली है। फिर उस साधन-बुद्धि की बढ़ानेवाली साधन-गुरु भी वही है, जो 'वहाँ' तक ले जानेवाला है। और वही वह है, जो साधनानुकूल परिस्थिति बनाती है।

है तो वही एक सब कुछ। यहाँ तक कि साध्य, साधन होने के अतिरिक्त साधक भी वही है। पर यह बुद्धि कि साधक भी वही है, साधन के पूर्ण होने पर ही आती है। साध्य-साधन-साधक यह त्रिपुटी-भाव भी जब नष्ट वा लय होता है, तो फिर क्या रह जाता है, यह कोई नहीं कह सकता। इसी से शास्त्र भी इस अवस्था को अनाख्यावस्था कहते हैं। इस कारण अन्तिम अवस्था का ध्यान न रखकर साधन करना होता है। यह भी साध्य की यत्-किञ्चित् धारणा रखकर। कारण साध्य की पूरी धारणा असम्भव है। अपने को वही स्वयं जानती है। दूसरा जाननेवाला है ही नहीं। गीता और तन्त्र दोनों ऐसा ही कहते हैं। गीतोक्ति है—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

तन्त्रोक्ति है—

सैव स्वं वेत्ति परमा तस्या नान्योऽस्ति वेदिता।

इस अवस्था में हम सभी 'अन्ध-हस्ति-न्याय' अनुमान करके जानते हैं। जिस रूप का आंशिक ज्ञान है, वह उप-हित चेतना-मयी का है, न कि अनु-प-हित चेतना का। तात्पर्य कि त्रिगुणात्मिका उप-हित चेतना-मयी महामाया के अपर रूप का ज्ञान है। पर-रूप अनुप-हित चेतना का तो, जो गुण-त्रय से अनुप-हित वा परे है, ज्ञान होना असम्भव है। इसी से त्रिगुण-मयी सत्ता का उपासना का निर्देश है। गुणातीत रूपातीत जो इसका रूप है, उसकी उपासना नहीं हो सकती।

उपासना भी दो प्रकार की है—एक सालम्ब और दूसरी निरालम्ब। सालम्ब में भक्ति-योग प्रधान है और निरालम्ब में ज्ञान-योग अथवा क्रिया-योग। भक्ति-योग में इष्ट-रूप का आश्रय लेकर चलना है; ज्ञान-योग में 'मैं स्वयं ब्रह्म-रूप हूँ'—'अहं ब्रह्मास्मि' इस सिद्धान्त पर चलना है और क्रिया-योग में निदिध्यास वा साधन द्वारा अपने प्राण को और अपने मन को संवर्धित कर पर-प्राण अर्थात्

परमात्मा में मिलना है। ज्ञान और क्रिया—ये दोनों अपने शुद्ध रूपों में निरालम्ब कहे गये हैं। इन दोनों में सँभालनेवाला दूसरा नहीं है अर्थात् गिरने से बचानेवाला नहीं है। भक्ति-योग में यह बात नहीं है। इसमें बचानेवाला है। इसी से यह सर्व-श्रेष्ठ योग है—

भक्ति-योगः सर्वेभ्यो गरीयान् (पारानन्द सूत्र)।

गीता (६।४७) भी ऐसा ही कहती है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्-गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्त-तमो मतः॥

अब यह विवेच्य है कि इस उप-हित चेतना-शक्ति के किस रूप का साधन कर्तव्य है। हम सभी रूपों का कर नहीं सकते। सुतरां किसी एक रूप को ही लेना है। रूप का निर्णय श्रेष्ठता पर नहीं है क्योंकि कोई रूप किसी दूसरे रूप से श्रेष्ठ वा न्यून नहीं हो सकता। इस हेतु साधक अपनी योग्यता और सुविधा के अनुसार रूप का चनाव करता है। इसी चुनाव को भक्ति-योग-दर्शन में सम्बन्ध-स्थापन कहा गया है।

इन सम्बन्धों को मुख्यतया दो भागों में बाँट सकते हैं—एक स्त्री-लिंगात्मक और दूसरा पुंल्लिगात्मक अर्थात शक्ति या शक्ति-मान् इन दो रूपों में। ये दोनों भाव यथार्थतः भिन्न नहीं हैं। इसी से श्रुति कहती है—शक्ति-शक्ति-मतोरभेदः।

शक्ति-उपासना जिसके माहात्म्य और शिक्षण का विषय सप्तशती में है, तीन प्रकार की है—

(१) ग्रहीत्रालम्बना अर्थात् माता के गर्भ में भ्रूण जैसा रहना (जैसी महर्षि वामदेव ने की)।

(२) ग्रहणालम्बना अर्थात् माता की गोद में रहकर करना (जैसी समाधि वैश्य ने की) और-

(३) ग्राह्यालम्बना अर्थात सर्वतोभाव से आश्रित होकर रहना (जैसी सुरथ राजा ने की)।

शक्ति उपासना के ही अन्तर्गत दुहितृ-उपासना है। दुहिता (लड़की) मानकर जो उपासना होती है, उसको कुमारी-पूजा वा बाला-उपासना कहते हैं। यह वात्सल्य-रस-प्रधान है। वैष्णव मार्ग की बाल-गोपाल की उपासना के समान यह है।

सुरथ और समाधि की उपासना-द्वय किस क्रम की थी, इसका पता देव-गण की स्तुति से मिलता है। इस स्तुति में जिन भावों की व्यक्ति है, वह पूर्व-कृत उपासना के आधार पर ही है। इन भावों की आलोचना पश्चात् करेंगे, जिससे यह 'देवी-सूक्त' कहलाती है। इसके पूर्व इस स्तुति का अधिष्ठान कैसा है, यह द्रष्टव्य है। उक्ति है—'हिमवन्त नगेश्वर' पर जाकर अर्थात् अवस्थित हो स्तुति की गयी। 'नगेश्वर हिमवन्त' का वाच्यार्थ है पर्वतराज हिमालय, पर यह अर्थ यहाँ ग्राह्य नहीं है। 'नग' नाम न चलनेवाले वा अचर का है—

न गच्छति इति नगः।

यह 'हिमवान्' का विशेषण-पद है। इसका रहस्यार्थ है महा अटल और 'हिमवान्' का एक अर्थ, जो यहाँ ग्राह्य है, वह है पूर्ण शीतल—'हिम-वत् शीतलः।' उक्त गुण-द्वय-शील मानसिक अवस्था है, जिसमें स्तुति की गयी यद्वा की जाती है। इसको संयतावस्था कहते हैं। इसी अवस्था के जप, स्तवन आदि कर्म फल-दायक हैं।

स्तुति है-'हे देवि अर्थात् अपर चेतने, हे महा-देवि अर्थात् पर-चेतने, कल्याण-कारिणि, तुमको सतत नमस्कार! हे प्रकृति अर्थात् प्रकृष्ट रूप से काम करनेवाली, हे भद्रे अर्थात् योग-क्षेमंकरि, तुमको नियत-भाव से प्रणाम करता हूँ। रुद्र-शक्ति को, नित्या सत्ता को, गौरी सत्ता को, धात्री सत्ता को, चन्द्रिका एवं चन्द्र-शक्ति को और सुख-दात्री शक्ति को सतत नमस्कार। निरोग करनेवाली को, प्रणत-जनों की उन्नति करनेवाली को, सिद्धि देनेवाली को पुनः-पुनः नमस्कार। निर्ऋति अर्थात् घृणा-रहिता-'निर्गता ऋतिर्घृणा यस्याः सा' को, पृथ्वी की आधार-शक्ति को, लक्ष्मी अर्थात् ज्ञान देनेवाली को, शर्वाणी को अर्थात् लीन वा लय करनेवाली को पुनः पुनः नमस्कार। दुर्गा को अर्थात् पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड-रूपी दुर्ग (किले) में रहनेवाली को, दुर्ग-पारायै अर्थात् भव-रूपी दुर्ग वा कठिन कारागार से निकालनेवाली को, मूला अर्थात् सभी कारणों के कारण को, सभी सम्भव और असम्भव घटना

घटानेवाली को, प्रसिद्ध कीर्तिवाली को, कृष्णा अर्थात् अचिन्त्या को, धूम्रा को अर्थात् धूमिल ज्ञान वा अपरिपूर्ण ज्ञान में आनेवाली को सतत नमस्कार। अति सौम्या सत्ता एवं अति घोर सत्ता को बारम्बार प्रणाम। जगत् की प्रतिष्ठा जिससे है, एवं उस देवी शक्ति को, जो कार्य-कारिणी सत्ता है, पुनः पुनः नमस्कार। उस देवी को, जो सब भूतों में व्यापक होने से विष्णु-माया कही जाती है, पाँच बार नमस्कार। उस देवी को, जो सभी जीवों में चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, धृति, स्मृति, दया, तुष्टि, पुष्टि, मातृ और भ्रान्ति-रूप में रहती है, पञ्च-नमस्कृति। अखिल जीवों के इंद्रियों की अधिष्ठात्री देवी को, जिससे समस्त भूत-गण सर्वदा व्याप्त रहते हैं, बारम्बार नमस्कार। जिस चेतना-शक्ति से निखिल विश्व व्याप्त हो अवस्थित है, उसको पुनः पुनः नमस्कार। समय-समय जो सुर अर्थात् चेतना-शील इन्द्रिय-गण तथा सुरेन्द्र अर्थात् इन्द्रिय-गण के स्वामी मन से अभीष्ट के संश्रय के कारण स्तुता वा पूजिता होती रहती है, वह हमारी आपत्ति को दूर कर कल्याण करे। हम उद्धत खण्ड-कारक द्वैत-भावात्मक अनात्माकार वृत्तियों से तापित हो रहे हैं। इस हेतु जिसमें हम प्रणत हैं, वह तत्क्षण स्व-गुणानुसार हमारी विपत्ति को दूर करे।'

यह स्तुति बड़े महत्व की है। वा ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं कि एतादृश स्तुति दूसरी नहीं। जिस प्रकार गायत्री में व्याहृति-नियोग की एक अपूर्व विशिष्टता है, उसी प्रकार इस स्तुति में के प्रणमनों की विशिष्टता है, जिसका आंशिक अस्तित्व आगे चलकर एकादश अध्याय की 'नारायणी स्तुति' में है। यह प्रणमन-प्रक्रिया गुरु-मुख से ही सीखी जा सकती है। तथापि इतना कह सकते हैं कि यह उच्च यौगिक एवं मनोयौगिक प्रक्रिया है। यह है शरणागति की मुद्रा, जिसमें प्राण और मन की संयति पूर्ण रूप से होनी चाहिये। इस मुद्रा के पर्याप्त अभ्यास से अहं कृति दूर हो जाती है। इसमें भी मात्रा अर्थात् कक्षा है। उच्च कक्षा का प्रणमन, जैसा अर्जुन ने विराट् रूप के दर्शन करने पर किया था, प्रकृत प्रणमन है। इसी प्रकार का प्रणमन 'सम्वेश' रूप है, जिसकी चर्चा पूज्यपाद शङ्कर ने की है। यह हुआ दिव्य-भाव का प्रणमन, जिसमें बाह्य मुद्रा की आवश्यकता नहीं है। इस स्तुति के प्रणमन हैं मध्यम वा वीर-भाव के, जिसमें बाह्य-मुद्रा वा बाह्य-प्रक्रिया भी संयुक्त है। निकृष्ट वा पशु-भाव के प्रणमन केवल बाह्य-मुद्रा एवं वाचनिक हैं। तात्पर्य कि जिसमें प्राण-क्रिया और मानसिक क्रिया का यत्-किञ्चित् समावेश रहता है।

अब इस प्रणमन-प्रक्रिया की निर्द्धारित संख्या पर विचार करना है। स्तुति में सर्व प्रथम तीन बार और तत्पश्चात् पांच बार नमस्कार करना कहा गया है। तीन बार का प्रणमन कायिक, वाचनिक और मानसिक है। इससे मनसा वाचा कर्मणा सम्वेश अर्थात् तादात्म्य होता है। और पञ्च-नमस्कृति अर्थात पाँच बार के प्रणमन से तात्पर्य है पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों के सम्वेश का। यह भी एक दो बार करने का विषय नहीं है। इसी से 'सततम्' पद का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग भी एकाधिक बार किया गया है, जिससे इस पर साधक का ध्यान रहे। प्रणमन की सजातीय निरन्तर धारा छिन्न न होने पावे। यह नियम जिस प्रकार भक्ति-योग में निर्दिष्ट है, उसी प्रकार क्रिया और ज्ञान-योग-द्वय में भी। ब्रह्म-सूत्र-द्वय—'आवृत्ति-रस-कृदुपदेशात्' और 'आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्' इस सतत करने के सिद्धान्त के पोषक हैं। छान्दोग्य श्रुति का भी यही सिद्धान्त है—

'खल्वेवं यावदायुष्यं ब्रह्म वर्तयन् लोकमभिसपद्यते' ८।१५।

पातञ्जल योग-दर्शन भी कहता है—

'स (अभ्यास) तु दीर्घ-काल-नैरन्तर्य सत्कारा सेवितो दृढ़-भूमिः।'

तत्पश्चात् 'नियताः' पद पर भी विशेष ध्यान रहे। नियताः 'नि=नितरां+यताः=यतेन्द्रियाः' का अर्थ है संयत प्राण और मनवाले। (मन भी एक इन्द्रिय है, जिसकी एकादश इन्द्रियों में परिगणना

है।)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नमन-क्रिया और नाम-जपन वा कीर्तन-क्रिया का आधार एक ही है। एक ही 'नम्' धातु से बने 'नमन्' और 'नाम' पद हैं। यादृश नमन का तात्पर्य है आत्म-विस्मरण वा आत्म-लय, तादृश ही नाम-जपन-प्रक्रिया का तात्पर्य है। सभी नामों वा रूपों का लय उसी एक नाम में करना चाहिये। सुतरां इससे आत्म-नाम के सङ्ग आत्म-रूप का लय हो ही जाता है।

इस प्रणमन-प्रक्रिया से पार्वती प्रत्यक्ष हो जाह्नवी में अवगाहनार्थ उतर आती हैं। इस रूप-कोक्ति से ऐसा बोध है कि पार्वती अर्थात् पर्वत-राज हिमालय—व्यष्टि के सहस्रार के ब्रह्म-रन्ध्र में रहनेवाली कूटस्थ आद्या-शक्ति हमारे ज्ञान-गम्य हो जाती है अर्थात् प्रादुर्भूत हो जाती है। समष्टि-रूप में यदि ऐसा मानें कि पर्वत-प्रदेश के अभिमानी देव की लड़की यह पार्वती है, तो इसमें कोई विशेष आपत्ति नहीं। यह भी आधिदैविक दृष्टिकोण मात्र से। इस पार्वती का गङ्गा-स्नानार्थ उतर आने का यह रहस्यार्थ है कि पार्वती कोई हम मनुष्य-जैसा स्नानादिक शौच-क्रिया नहीं करती। कारण यह पार्थिव शरीरवाली नहीं है। स्वतः इससे कुछ और ही बोध है, जिसको इस प्रकार समझ सकते हैं—

'जाह्नवी' पद का अर्थ है 'जहनु' से हुई। अब 'जहनु'-पद 'हा त्यागे + नु उणादि' से बना है। 'जह्नु'-भाव का अर्थ है त्याग वा लय-भाव। यह त्याग है अहंकृति का और लय है ब्रह्म-लय। इस ब्रह्म-भाव की धारा में पार्वती अर्थात् साधक की ब्राह्मी-शक्ति अवगाहन करने (गोता लगाने) आती है। 'तोय' नाम रस का है। तात्पर्य कि नमस्क्रिया के पर्याप्त साधन से साधक ब्रह्मानन्द-रस में अवगाहन करने लगता है। क्रिया-योग-क्रम में साधक की कूटस्था महा-प्राण-शक्ति श्वास प्रश्वास की त्यागावस्था अर्थात् समाधि-अवस्था में अवस्थित हो जाती है, ऐसा तात्पर्य है और भक्ति-योग-क्रम में विश्व-प्रेम की सत्ता निकृष्ट अहंकृति की त्याग-धारा में प्रेम-रस में लुप्त हो जाती है, ऐसा बोध है।

इस अवस्था में साधक क्या करता है? उसमें स्वतः ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि अब मुझे क्या करना है। पार्वती ने जो देव-गणों से जिज्ञासा की, इसी का द्योतक है। अब तत्क्षण अर्थात् मन में ऐसा विचार उत्पन्न होते ही साधक की कौशिकी शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इसी शक्ति की दूसरी संज्ञा है 'अम्बिका' अर्थात् गायत्री। वैसे अम्बा या अम्बिका का अर्थ है माता, पर 'अवि शब्दे' से बना अम्बा-पद का वाच्यार्थ है शब्द वा गान करनेवाली, जिसको गायत्री शक्ति कहते हैं। गायत्री स्पन्दन-गान करती है।

यही शक्ति अब साधन-समर में साधक के त्राणार्थ कूटस्थ पार्वती महाशक्ति से निकल पड़ती है। किस रूप में? महा-सुन्दर रूप में। यह सुन्दरता केवल रूप की नहीं है। यह ऐसी सुन्दरता है, जिसके तादात्म्य से निखिल विश्व सुन्दर हो जाता है। कुत्सित-से-कुत्सित वस्तु और भयङ्कर-से-भयङ्कर वस्तु भी इस सुन्दरी के उपासक के लिये सुन्दर हो जाते हैं। दो शब्दों में साधक का त्रिपुर अर्थात् ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय तीनों सुन्दर हो उठते हैं। इसी से तन्त्रों में यह शक्ति त्रिपुरसुन्दरी कही जाती है। यही शक्ति प्रकृत मनोहर अर्थात् लयंकरी पद-वाच्य है।

धन्य है वह चण्ड, जिसको इसका प्रथम दर्शन वा आभास मिलता है और धन्य है शुम्भ, जिसको इसकी प्राप्ति की इच्छा होती है। यही सुन्दरता वह लाभ है, जिसके समक्ष अन्य लाभ नगण्य हैं। इस लाभ के हेतु शुम्भत्व वा त्रैलोक्येश्वरत्व का भी त्याग करना पड़ता है। त्रैलोक्येश्वरत्व है ईश्वरत्व। ईश्वरत्व से श्रेष्ठ पद है परमेश्वरत्व, जिससे ऊपर वा श्रेष्ठ अन्य सत्ता नहीं है।

इसी की रूपकोक्ति है सप्तशती में का तीसरा चरित वा उपाख्यान, जिसमें यह दिखलाया गया है कि साधक किस प्रकार अपने शुम्भत्व, निशुम्भत्व आदि का त्याग कर सकता है। यहाँ इतना उल्लेख्य है कि जहाँ रावण परा-शक्ति सीता का छद्म से अपहरण कर अपनी बनाना चाहता है, वहाँ शुम्भ

बलपूर्वक ऐसा करना चाहता है। बात एक ही है। साधन में पृथक्ता है, लक्ष्य में नहीं।

चण्ड-मुण्ड ने त्रिपुरसुन्दरी को देख शुम्भ से कहा—महाराज, हमने एक स्त्री को अभी देखा है, जो अपने रूप से समस्त हिमाञ्चल को उद्भासित कर रही है। दसों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाली यह स्त्री कौन है ? जब तीनों लोकों के सभी रत्न आपने प्राप्त किये हैं, तो फिर इस स्त्री-रत्न को भी प्राप्त करें।

अब प्रश्न यह है कि शुम्भ के बहुत से भृत्य थे। फिर केवल चण्ड-मुण्ड का ही नाम क्यों लिया गया ? वस्तुतः चण्डत्व है दर्प, जैसा पूर्व कहा जा चुका है। लाभ से सम्वर्धित दर्प ही अतिरिक्त लाभेच्छा का लानेवाला है। यथा–लक्षेश-जन्य दर्प से कोटीश्वरत्व के लाभ की इच्छा होती है, कोटीश्वरत्व का दर्प राजा, राज-दर्प महाराज व चक्रवर्ती होना चाहता है। फिर ईश्वरत्व वा त्रैलोक्येश्वरत्व विश्वेश्वरत्व वा परमेश्वरत्व की लिप्सा लाता है। त्रैलोक्य के रत्नों से योग-विभूतियों का तात्पर्य है, जो शुम्भ को प्राप्त थीं। यथा –

(१) पुरन्दर से ऐरावत, उच्चैःश्रवा तथा पारिजात––पुरन्दर है वह, जो पुरों अर्थात् चक्रों का भेदन कर लेता है (यह हुई क्रिया-योग की बात। ज्ञान-योग में चक्र हैं ज्ञान-भूमिकाएं। अतः उसके अनुसार सातवीं भूमिका में अवस्थित व्यक्ति 'पुरन्दर'-पद-वाच्य है)। उच्चैःश्रवा का अर्थ है दिव्य-श्रोत्र का होना। यह एक योग-विभूति है, जो विष्णु-ग्रन्थि-भेदक को स्वतः प्राप्त है। पारिजात वृक्ष अर्थात् प्राकाम्य सिद्धि।

(२) वेधस् से हंस और विमान–वेधस् से यहाँ ब्रह्मा का बोध नहीं है। वेधस् नाम सूर्य का भी है। सौर शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति है वेधस्। तन्त्रों में सूर्य-विज्ञान की संज्ञा है काम-कला विद्या। इसका विमान है हंस। यहाँ विमान का अर्थ है वि = विशेष+मान=धारणा। तात्पर्य कि काम-कला विद्या की धारणा है हंस की विशेष धारणा से। यह हंस नाम है रक्षा करनेवाले का, परन्तु हंस का अर्थ है मारनेवाले का—'हन्तीति हंसः'। इसका समाधान यह है कि अनुलोम-क्रम से प्रणव नहीं है किन्तु विलोम-क्रम से अर्थात् जब इस शब्द का रूप 'सः हं' हो जाता है, यह प्रणव वाचक हो जाता है। यही 'सोऽहं' काम-कला विद्या कही जाती है।

अनुलोम-क्रम से 'हंस' पद से अपर-प्राण वा अपर-प्रणव का बोध है, जो जीवों की प्राणावधि वा आयुष्य तक जीव की रक्षा करता है और आयु शेष होने पर जीव के शरीर से निकल उसको मार देता है। फिर विलोम रूप से अर्थात् इसकी प्रक्रिया को उलट देने से यह अमर कर देनेवाला हो जाता है, जिससे पर प्रणव कहलाता है। क्रिया-योग-क्रम में हंस-विमानवाले से आकाश गामी का भी बोध है। ज्ञान-योग-क्रम में प्रणव वा शब्द-ब्रह्म की विशिष्ट रूप से मान करनेवाली शक्ति से सम्पन्न है हंस विमान वाला।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आकाश-गमन कल्पना मात्र नहीं है। पतञ्जलि का योग-विज्ञान कहता है कि काय और आकाश के सम्बन्ध के संयम से रुई (तुला) सा हल्का होकर योगी आकाश में उड़ता है। स्व० विशुद्धानन्द जी महाराज (गन्ध बाबा), जिनको स्वर्गीय हुये बहुत दिन नहीं हुये हैं, आकाश-मार्ग से आते जाते थे। काशी के एकाक्ष बाबा जी भी ऐसा करते थे। दरभङ्गा के स्व० महाराज रामेश्वरसिंह को इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिला था।

(३) कुबेर से पद्म नाम की महा-निधि—कुबेर से कौबेरी विद्या का, जिसकी अपर संज्ञा है श्री विद्या, बोध है। कुबेर उत्तर दिशा का स्वामी है। उत्तर दिशा से उत्तराम्नाय वा उत्तर मार्ग का तात्पर्य है। उत्तराम्नाय के क्रम से साधन करने से नवो निधियों की प्राप्ति कही जाती है। मानते हैं कि पद्म के अष्ट-दल होते हैं। कर्णिका के साथ इनकी संख्या नौ है। इस प्रकार पद्म नव-निधि का द्योतक है। इसकी प्राप्ति पातञ्जल योग-दर्शन ने भी मानी है। भक्ति-योग-क्रम में नवधा-भक्ति की सिद्धि से नव-सिद्धि की प्राप्ति है और ज्ञान-योग-क्रम में ये

नव-निधियाँ ज्ञान-विभूतियाँ कही गई हैं।

(४) अब्धि से किंजल्किनी-संज्ञक अम्लान पंकज-माला—अब्धि से आप अर्थात् ज्योति एवं रस दोनों का क्रमशः ज्ञान-योग-क्रम और क्रिया-योग क्रम में बोध है। ज्योति से ज्ञान का और रस से सहस्रार से जो अमृत-रस टपकता रहता है, उसका बोध है। इसी ज्ञान यद्वा रस का आकर है अब्धि। यह आकर वा भाण्डार उसी को प्राप्त है, जो ज्योति-विज्ञान यद्वा रस-विज्ञान का पूर्ण ज्ञाता हो जाता है। इस विद्या से उसको अम्लान अर्थात् ह्रास न होनेवाली ज्ञान-माला वा ज्ञान-राशि यद्वा रस-माला अर्थात् प्राण-पोषक रस-राशि, जो कभी सूखने नहीं पाती, मिलती है।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि रस अनेक प्रकार के हैं, जो शरीर के अनेक 'ग्लैण्ड' से निकलते रहते हैं, पर ये अशुद्ध वा दूषित नाड़ियों के कारण अपना-अपना काम नहीं कर पाते। इसी से नाड़ी-शुद्धि योग-प्रक्रिया का प्रथम कर्तव्य है। जिन क्रिया-योगियों ने नाड़ी-शुद्धि कर ली है, उनके रस-वर्ग अम्लान रहकर उनको अजर-अमर कर देते हैं। अम्लान रस-माला को कठ श्रुति में 'सृङ्का' कहा है जिसके दो अर्थ भाष्यकार शंकर ने कहे हैं—एक शब्द-वती और दूसरा शुद्ध प्राण-गतिवाली।

(५) वरुण से काञ्चन बरसानेवाला छत्र—वरुण से वारुणी अर्थात् गायत्री विद्या का बोध है। इसके साधन से छत्र अर्थात् रक्षक को प्राप्ति है। यह छत्र कांचन की वर्षा करता रहता है। कांचन का अर्थ है दीप्ति-कारक। गायत्री त्राण करनेवाली है, जिसकी आभा सतत बिखरती रहती है। यही है छत्र-छाया, जिसके नीचे शुम्भ-सा साधक हमेशा रहता है।

(६) प्रजा-पति से श्रेष्ठ स्यन्दन—प्रजा-पति हैं समना वा त्रिगुणात्मक। यह समना-शक्ति जब उन्मना-रूप में परिणत होती है, तभी परिशुद्ध होती है। यह जिस साधन से होता है अर्थात् जीव जो समना-अवस्था से उन्मनावस्था में पहुँचता है, उसी का नाम स्यन्दन है। स्यन्दन के दो अर्थ हैं—एक जो चले और दूसरा जो स्रवण करे। यह क्रिया-योग का विषय है। अतः विशिष्ट रूप के चलने वा चूनेवाले का बोध है। यह स्यन्दन ज्ञान-योग-क्रम में उच्च भूमिका पर मन के जाने का और क्रियायोग-क्रम में प्राण की ऊर्ध्व-गति का साधन है। परन्तु इस स्यन्दन वा साधन से वहाँ तक जाने में असमर्थ है। इसी से 'स्त्री-रत्न' की अभिलाषा है।

(७) मृत्यु से उत्क्रान्तिदा शक्ति—मृत्यु दो प्रकार की है। एक हेय, जो शरीर और प्राण के विच्छेद-रूप है। यह अयथार्थ भी है, कारण इस मृत्यु में अनुशय* के रह जाने से प्राण वा आत्मा को दूसरा शरीर ग्रहण करना पड़ता है। दूसरी है उपादेय, जिसमें शरीर के विच्छेद के साथ अनुशयों यद्वा मन का भी, जिसमें अनुशयों की अवस्थिति है, विच्छेद हो जाता है, जिससे पुनर्जन्म नहीं होता। यह है हेय मृत्यु का देनेवाला, और संयम है उपादेय मृत्यु वा मुक्ति देनेवाला, पर मृत्यु की ही शक्ति है उत्क्रान्तिदा। (उत्=ऊपर अर्थात् परम स्थान वा ब्रह्म-लोक + क्रान्ति=गमन+दा=देनेवाली) अर्थात् मुक्ति देनेवाली शक्ति। पर यहाँ उत्क्रान्ति से स्वर्ग-गति का ही बोध है, इसी से शुम्भ को 'स्त्री-रत्न' की अभिलाषा है, जिससे परम-पद की प्राप्ति है, जहाँ से लौटना नहीं पड़ता।

(८) सलिल-राज से पाश—सलिल (षल्-गमने) का अर्थ है गति-शक्ति। इसका मुख्य आयुध वा साधन है पाश अर्थात् बाँधनेवाला भाव—अनुराग। यह अस्मिता-रूपी शुम्भ को ममता से प्राप्त है। ममता ही अनुराग है। 'परिग्रह'-पद भी रहस्य-मय है। यह परिग्रह तामस वा राजस नहीं, सात्विक है। वह भी 'स्त्री-रत्न' की तुलना में माना गया है। कारण सात्विक परिग्रह भी परम-पद की प्राप्ति का विरोधी है।

निशुम्भ के द्वारा शुंभ को अर्थात् ममता द्वारा

*'अनुशय' पद का अर्थ है पश्चात्-गामी भाव। अर्थात् आभ्यन्तरिक अभिलाषा। इसके दो भेद हैं—१ सुखानुशय, २ दुःखानुशय।

अस्मिता को अब्धि के समस्त रत्न प्राप्त हैं। तात्पर्य कि ममत्व को अब्धि अर्थात् कर्माशय की अखिल विभूति परिगृहीत थी परन्तु विभूतियाँ परम-पद की प्राप्ति में बाधक हैं। यह त्रुटि शुम्भ में है, जो उसे अन्तः-प्रेरणा से दीख पड़ती है। चण्ड का निवेदन है शुम्भाधिष्ठित उच्च सात्विक साधक का आत्म-विचार-दर्प-भाव से जब कोई विचार उत्पन्न होता है, तो अन्तरात्मा-गुरु की अनुकम्पा से त्रुटियाँ भी दीख पड़ने लगती हैं।

(६) वह्नि से निर्मल करनेवाले ऊर्ध्व एवं अधो-वस्त्र-युगल—वस्त्र है शरीर का रक्षक। शरीर से यहाँ विज्ञान-मय कोश का तात्पर्य है। उक्त वस्त्र-द्वय को कवच कह सकते हैं। ज्ञान-योग में वह्नि से ज्ञानाग्नि का और क्रिया-योग में प्राणाग्नि का तात्पर्य है। इस कवच-द्वय से जीव का ज्ञान सुरक्षित रहता है। क्रिया-योग-क्रम में अग्नि है प्राण, अतः शुंभ अर्थात् प्राण-विज्ञानी साधक को ये कवच प्राप्त हैं, जिसने ब्रह्म-ग्रन्थि एवं विष्णु-ग्रन्थि भेदन कर लिया है, परन्तु मन वा प्राण की पूर्ण शुद्धता नहीं होती, जब तक अन्तिम रुद्र-ग्रन्थि का भेदन न हो जाय। इसी से 'स्त्री-रत्न' की अभिलाषा है।

अस्तु, चण्ड की यह उक्ति 'त्वया कस्मान्न गृह्यते' प्रश्न-वाचक नहीं है। यह विमर्श-वाचक वा मन्त्रणा-दात्री उक्ति है। तात्पर्य कि सात्विक दर्प वा श्रेयस्-भाव के द्वारा यह सूझ शुम्भ का हाती है कि साधन-पद की सारी विभूतियाँ तो प्राप्त हैं। अब कैवल्य-पद की प्राप्ति हो। कारण यही तो वह वस्तु है, जिसकी प्राप्ति होने पर सभी सिद्धियाँ नगण्य हैं। दूसरे शब्दों में सात्विकी अस्मिता (शुम्भ) अपने चरम-लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त अर्थात् स्व-धर्म की प्रेरणा से स्वरूप में आने के लिये निधन चाहता है। यह स्वधर्म सात्विक जीव में ही है। इसी से बहुत से आचार्य सात्विक होना ही जीव का चरम लक्ष्य मानते हैं।

अन्तरात्मा रूपी गुरु यद्वा भगवती विमर्श शक्ति की अनुकम्पा से जब उक्त भावना दृढ़ हो जाती है, तो शुम्भ सुग्रीव को दूत बना वहाँ भेजता है। सुग्रीव से सुन्दर भाव-वाहिनी सत्ता या सत्संकल्प का तात्पर्य है। इसकी विशिष्ट त्रुटि है असीम को ससीम में ले आने की अभिलाषा। शुम्भ की इस इच्छा का खण्डन भगवती इन शब्दों में करती है—हे दूत! तुम जो कहते हो, वह सत्य है। शुम्भ तीनों लोकों का स्वामी है और उसे त्रैलोक्य के सारे रत्न प्राप्त हैं, परन्तु मेरी जो प्रतिज्ञा है, उसे कैसे तोड़ूँ? अल्प-बुद्धि के कारण जो प्रतिज्ञा मैंने पूर्व में की है, वह यह है कि 'जो मुझे संग्राम में पराजित कर दे, मेरे दर्प को चूर्ण करे अथवा जो मेरे समान ही बली हो, वही मेरा पति होगा। अतः व्यर्थ विलम्ब क्यों, शुम्भ वा निशुम्भ मुझे पराजित कर मेरा पाणिग्रहण कर ले।'

इस उक्ति का भावार्थ ऐसा है—शुम्भ त्रैलोक्येश्वर अवश्य है, पर मुझे अर्थात् कैवल्य-लाभ को वह इस प्रकार नहीं प्राप्त कर सकता। ऐसा नियम पुरा अर्थात् सृष्टि के पूर्व ही प्रतिज्ञात अर्थात् निश्चित किया गया है। इस नियति के अधीन विश्व के परम-श्रेष्ठ जीव महा रुद्र और सर्व-कनिष्ठ एक तृण भी है (योग-वासिष्ठ)।

प्रायः सभी भक्ति-योगी यह समझते हैं कि भगवती जो चाहें, कर सकती हैं। यह भ्रान्त धारणा है। भगवती अपने बनाये नियमों को तोड़ नहीं सकतीं। नियम को तोड़कर भी नियति को यथार्थतः तोड़ती नहीं हैं, यह देव-गण को समझ में नहीं आ सकता। गोसाईं जी ने कहा है—

तुलसी भावी प्रबल है, मेट सके नहिं राम।
मेरे तो अचरज नहीं, समझ किया है काम॥

'अल्प-बुद्धित्वात्' पद का प्रयोग भगवती ने अपने लिये नहीं, जीवों के लिए किया है। तात्पर्य कि जो भी जीव हैं, सभी अल्प-बुद्धिवाले हैं। उन्हीं के लिए ऐसा नियम करना पड़ा।

भगवती की प्राप्ति कैसे सम्भव है, इस सम्बन्ध में जो रूपकोक्ति कही गई है, उसमें विरोधाभास है। पहिले कहा है कि 'जो संग्राम में मुझे पराजित करे।' फिर कहा है कि 'जो मेरे समान बली हो।' विरोध यह पड़ता है कि समान बली पराजित नहीं

कर सकता। अतः या तो प्रति-बलो का उल्लेख व्यर्थ है या 'यो मां जयति' की उक्ति।

वस्तुतः यहाँ नियति के ३ नियमों का उल्लेख है—(१) संग्राम में पराजित करना, (२) दर्प का व्यपोहन अर्थात् खण्डन और (३) प्रति-बली होना।

(१) संग्राम से सम-वलय नामक श्रेष्ठ-मुक्ति-दायक साधन का तात्पर्य है। क्रिया-योग में यह संग्राम है प्राण-संग्राम, जिसमें मन पर विजय पाकर जीवन-मुक्त होता है।

(२) दर्प है प्राण और मन की मलिनता। दूसरे शब्दों में अस्मिता पर विजय पाना है अर्थात् अपने में से दर्प-भाव को निकाल बाहर करना है। तभी प्राण और मन की अस्थिरता हटती है और जीव की एकता पर-प्राण-शक्ति अर्थात् स्थिर प्राण से होती है, जिससे प्रशान्तावस्था होती है, जो साधन का चरम लक्ष्य है।

(३) प्रतिबल वा समान बल-शाली होना है ज्ञान-योग-क्रम में साम्यावस्था में अवस्थिति। साम्यावस्था पाँच प्रकार की है—(१) अधिष्ठान, (२) अवस्थान, (३) अनुष्ठान, (४) रूप और (५) नाम। आंशिक साम्य से पूरा काम नहीं होता। उक्त पाँचों साम्यों की प्राप्ति से ही नित्य साम्यावस्था आती है, जिससे भगवती के भर्त्ता शिव के शिवत्व की प्राप्ति है। 'समय' नाम शिव का ही है 'समं साम्यं याति प्राप्नोति इति हि समयः।' समय का पर्याय है काल। काल होकर ही काला का भर्त्ता होता है। काली है प्राण-शक्ति, उसका भर्त्ता (भरण-पोषण करनेवाला) है प्राण-शक्ति को स्थिर रखनेवाला। यह शक्ति जीव को शिव होने पर ही प्राप्त है।

अन्त में भगवती कहती है कि 'शुम्भ को समर अर्थात् साधन-समर में आने को कहो। तर्क से मेरी प्राप्ति असभव है।' श्रुति-वाक्य—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इत्यादि से स्पष्ट है कि किसी मात्रा में सुन लेने से अर्थात् पढ़ लेने से 'उस' की प्राप्ति असंभव है। कर्म करके जो ज्ञान होता है, वही यथार्थ ज्ञान है। सिद्धान्त का ज्ञान नहीं के बराबर है, यदि अनुभूत न किया गया। यही शिक्षा विमर्श-रूपिणी भगवती सुग्रीव अर्थात् सुविचार-शक्ति के द्वारा सत्व-गुण-सम्पन्न शुम्भ को देती है।

सुग्रीवत्व के निरास के पश्चात् धूम्र-लोचन या शिथिलता का नाश होता है। शिथिलता आंशिक सफलता से आती है। इसको विक्षेप वा विज्ञान-विपर्यय भी कह सकते हैं।

धूम्र-लोचन का नाश होता है हूँकार से। हूँकार है क्रोध-बीज। क्रोध अर्थात् स्फुरता आने पर ही हूँकार होती है। तन्त्र के अनुसार इसी हूँकार से तारिणी वा तारक-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। साथ ही हममें सुप्ता कुण्डलिनी की जागृति इसी क्रोध-बीज से है।

उक्त शिथिलता अपने उप-सर्गों के साथ नष्ट होती है। धूम्र-लोचन की सेना अर्थात् उप-सर्ग साठ हजार कहे गये हैं क्योंकि विकारों की संख्या छः है और इन्द्रियों की दस। इस प्रकार उपसर्गों की संख्या साठ है। 'सहस्र' बहु-संख्या-वाची है।

साधक की शिथिलता के नष्ट होने पर उसकी प्राण-शक्ति और मनः-शक्ति का सम्वर्धन होता है, जिससे उसका मिथ्या-दर्प कि 'मैं तमो और रजोगुण को जीत सात्विक हो चुका हूँ' नष्ट हो जाता है। साथ ही तर्क-बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। तर्क-दर्शन विशुद्ध द्वैत-वादी है। तर्क वा अनुमान का नित्य साथी है प्रत्यनुमान। यही प्रत्यनुमान सत्य अनुमान का खण्डन करनेवाला है।

साधन-पथ में अग्रसर होने से अनुमान और प्रत्यनुमान को बुद्धि अर्थात् मुण्डत्व का, जो दर्प वा चंडत्व का आधार है, नाश होता है। अधिष्ठान का नाश होने पर अधिष्ठाता दर्प वा चण्डत्व का नाश स्वतः हो जाता है। कहा है कि शरीरस्थ प्राण-शक्ति की भृकुटी-भङ्ग-रूपी प्रक्रिया से ललाट अर्थात् आज्ञा-चक्र में से कूटस्थ कराल-वदना काली-शक्ति अर्थात् कलन-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह कलन-शक्ति क्रिया-योग में ज्योति-रूपिणी और

और ज्ञान-योग में ज्ञान-रूपिणी कही जाती है। इसी ज्योति का दर्शन आज्ञा-चक्र में क्रिया-योगियों को होता है और ज्ञान-योगियों के मानस-क्षेत्र में प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय होता है, जिससे आनुमानिक व प्रत्यानुमानिक ज्ञान वा मुण्डत्व नष्ट होकर दर्प वा चण्डत्व नष्ट हो जाता है।

'उत्थाय च महा-सिंहं देवी चण्डमधावत्' का हम लोग प्रायः गलत अन्वय कर अर्थ का अनर्थ ही करते हैं। ठीक अन्वय है—

हं देवी महासिं उत्थाय चण्डमधावत्।

अर्थात् 'हं देवी ने बड़ी तलवार को उठा चण्ड का पीछा किया।' 'हं देवी' पद का प्रकृत रूप है 'अहं देवी'। (अकार लुप्त है, जो व्याकरण-सम्मत है।) यही परा-अहं-कृति है, जो 'अहं' के सिवा 'इद' नहीं जानती। यही प्रकाश-शक्ति है, जो शुम्भ को यह कहकर समझाती है कि विश्व में दूसरा है कौन मेरे सिवा—

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।

यह हुई वेदान्त वा ज्ञान-योग की बात। क्रिया-योग में 'हं देवी' से कुण्डली-शक्ति का बोध है क्योंकि प्रकृति के रूप में यह कुण्डली केवल 'हं' वा 'अहम्'-शब्द मात्र करती रहती है। साधना के बल से यह 'सोऽहं' अथवा 'हंसः' करने लगती है। तभी दर्प अर्थात् अपरा अहं-कृति का नाश करती है।

दर्प के पश्चात् रक्त-बीज अर्थात् काम का नाश होता है। यह है सात्विक काम। (१) तामस काम है दूसरे के धन या स्त्री का अपहरण इत्यादि, (२) राजस काम है न्याय-अभिवृद्धि, (३) सात्विक काम है दानार्थ धन की, पर-रक्षणार्थ शक्ति की कामना इत्यादि। सांसारिक दृष्टि से सात्विक काम बहुत अच्छा है, पर परमार्थ दृष्टि से इसमें एक भारी दोष है। यह दोष है द्वैत-भाव का और किसी भी प्रकार का द्वैत-भाव सम-वलय मुक्ति का विरोधी है। महर्षियों का कहना है कि न बन्धन है, न मुक्ति है। मनोविज्ञान के अनुसार जहाँ मुक्ति का भाव है, वहाँ बन्धन का भी भाव छिपा रहता है। हम पाश-बद्ध हैं, तभी तो मुक्ति की कामना करते हैं। मुक्त होने पर बन्धन-भाव रह ही जाता है, कारण भय रहता है कि कहीं फिर पाश-बद्ध न हो जायँ। इस प्रकार जैसे हमारा समझना कि हम पशु हैं या बद्ध हैं, भ्रान्ति है, वैसे ही यह समझना भी कि हम मुक्त हैं, भ्रान्ति है। इसी से श्रुति कहती है—

योऽहमस्मि सोऽहमस्मि ब्रह्मास्मि।

तात्पर्य कि 'मैं जो भी होऊँ, मैं वही हूँ, ब्रह्म हूँ' अर्थात् मैं बद्ध हूं वा मुक्त, 'उस' से अभिन्न हूँ, कारण ब्रह्म हूँ क्योंकि ब्रह्म के सिवा तो दूसरा है नहीं। इस प्रकार सिद्ध है कि सात्विक कामना भी भ्रान्ति ही है। सुतरां इसका नाश इष्ट है।

चण्ड-मुण्ड के नाश अर्थात् साधक के चण्डत्व-मुंडत्व के लय होने पर तात्पर्य यह है कि उसमें स्फुरत्ता की वृद्धि अति-मात्रा में हुई। 'कोप-पराधीन-चेतः' का यही भाव है कि शुम्भ ने अन्य सभी वस्तुओं की ओर से उदासीन हो अपना सारा मन और सामर्थ्य साधन-समर में लगा दिया, ताकि उसका पाशाष्टक कटे।

पाश का द्योतक है राक्षस। ये राक्षस आठ प्रकार के कहे गये हैं-(१) उदायुध, (२) कम्बु, (३) कोटि-वीर्य, (४) धौम्र, (५) कालक, (६) दौर्हृद, (७) मौर्य एवं (८) कालकेय। तन्त्रोक्त पाशाष्टक हैं—

घृणा लज्जा भयं शोको जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥

इन आठों की विवेचना संक्षेप में इस प्रकार है—

(१) उदायुध—ऊपर उठा हुआ अस्त्र अर्थात् प्रस्तुत हानि-कारक भाव। हानि का आधार है घृणा। इसमें अहं-कृति सन्निहित है, द्वैत-भाव भी है। मैं बड़ा हूँ, वह छोटा है; मैं अच्छा हूँ, वह खराब है, इसी धारणा को घृणा कहते हैं। उदायुध दल की संख्या ८६ कही है, तात्पर्य घृणा के भेद और अवान्तर भेद ८६ हैं। १४ करणों की चारो अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय)=५६। अन्तःकरण ४, उक्त हिसाब से १६। कुल ५६+१६=७२। इसमें पर-सुषुप्ति अवस्था के १४

करणों को घृणाओं को मिलाने से ८६ हुई। अन्तिम प्रकार की घृणा अपनी ही शिथिलता के प्रति होती है।

(२) कम्बु—इससे आत्म-गोपनीयता (अपनी दुर्बलता को छिपाना) वा लज्जा का बोध है। लज्जा भी द्वैत-भावापन्न है। जहाँ भेद-भाव नहीं, वहाँ लज्जा भी नहीं। इनकी संख्या चौरासी है क्योंकि ६ कोश हैं जिनके १४-१४ करण हैं।

(३) कोटि-वीर्य—अर्थात् अनन्त शक्ति-शाली। आसुरी प्रकरण में इससे भय का और दैवी प्रकरण में निर्भयता का बोध है। मेरी यह सम्पत्ति नष्ट होगी, मैं नष्ट होऊँगा, इत्यादि आशङ्का ही भय है। इसका भी मूल द्वैत-प्रतीति ही है। इसकी संख्या ० कही है। ५ कोश × १० इन्द्रियाँ=५०। आसुरी सर्गों के प्रकाश के ये ही स्थान हैं।

(४) धौम्र-धूम्र अर्थात् प्रमाद वा आलस्य वा अपर-लय (स्तब्धता) के अनुशय बीज-राशि। ये द्वैत-प्रतीति-मूलक अस्मिता के अङ्ग हैं। गुणातीतावस्था में पहुँचने के लिए इनका लय आवश्यक है। इनकी संख्या १०० है अर्थात् १० इन्द्रियाँ + १० भाव।

(५) कालक—इससे बहुत बोलनेवाले से तात्पर्य है। बहु-भाषी स्व-प्रशंसक और पर-निन्दक होते ही हैं। अतः जुगुप्सा-भाव का बोध है।

(६) दौर्हृदाः—दुष्ट हृदय की दुष्ट भावराशि। हृदय की दुष्टता का कारण है कुल-भाव, जिससे अहं-कृति बढ़ती है।

(७) मौर्याः—मुर को शील या सद्-भाव कह सकते हैं। सुशीलता व्यक्ति को जगत् या समाज से शील-सूत्र में बाँधती है। इसी का विपरीत भाव है उदासीनता, जिससे ममता और अस्मिता का नाश है।

(८) कालकेयाः—कालक अर्थात् अज्ञान-रूपी कृष्ण-वर्ण के असुर के अपत्य। यह द्योतक है जाति-भाव का। भेद-भाव से ही इसकी परिपुष्टि है।

मूलोक्ति है कि असुराष्टक सैन्य को देख भगवती चण्डी ने धनुर्नाद किया, सिंह ने भी नाद किया, फिर घण्टा-नाद हुआ। इन तीनों नादों से दिक्मण्डल भर गया। साथ ही चण्डी-देवी के भ्रू-मध्य से उत्पन्न भगवती काली का भी नाद हुआ। वस्तुतः चण्डी है प्राण-शक्ति। धनुष हमारा शरीर है, जिसके तीन तांतें हैं। इनमें मध्य की एक ही तांत काम करती है। धनुर्दण्ड है हमारा मेरु-दण्ड। इसी मध्यमा तन्त्री वा सुषुम्ना से प्रणव की ध्वनि वा नाद निकलता है। प्रणव-ध्वनि अन्य दोनों तन्त्रियों (इड़ा-पिंगला) से भी निकलती है, परन्तु उससे काम नहीं चलता। ओंकार नाद के साधन से सिंह-नाद अर्थात् जीव-शरीर स्थित सारी चेतना ध्वनि करने लगती है और तब घण्टा-नाद अर्थात् सभी प्रकार के नाद होने लगते हैं। साधक में नाद-शक्ति के बलवती होने पर उसकी विलयङ्करा शक्ति (काली) का भीषण नाद अर्थात् उस तैजस् आत्म-शक्ति का जोरदार स्फुरण हो जाता है।

इसी साधनावस्था में साधक की चेतना-राशि सक्रिय हो आसुरी सर्गों को नष्ट करती है। ब्राह्मी, शैवी, कौमारी, वैष्णवी और ऐन्द्री-ये पाँचों हमारी प्रधान पञ्च प्राण-शक्तियाँ हैं, जो साधन द्वारा जाग्रत् हो परा प्राण-शक्ति भगवती चण्डी की सहायता करने लगती हैं। गौण प्राण-शक्तियों की कोई एक संख्या नहीं है।

उक्त चेतनाओं के योग-दान से साधना को सफल करनेवाली अपराजिता शक्ति सक्रिय हो उठती है। चेतना की मात्रा के अनुसार ही ये शक्तियाँ काम कर सकती हैं। सिद्धि की पूर्णता तभी होती है, जब इन शक्तियों की पूर्ण चेतना आती है। शुम्भ जीव में यह पूर्ण चेतना अब आने को है।

इसी हेतु उक्त अपराजिता (विजया) शक्ति ईशान अर्थात् 'अहं-कृति'-सम्पन्न जीव से कहती है—'तुम क्या चाहते हो ?' अर्थात् तुम विदेह-मुक्ति चाहते हो कि जीवन्मुक्ति ? अगर जीवन्मुक्ति चाहते हो, तो अपनी ममता (निशुम्भ), काम (रक्त-बीज) आदि को साथ ले पाताल में जाकर रहो और यदि विदेह-मुक्ति की इच्छा हो, तो साधन-समर में इनका लय करो। भगवती ईशान के

दूत बनाकर भेजती है। अर्थात् शुम्भस्थ ईशान के द्वारा कहती है कि तुम निवृत्ति-मार्गी बनो या प्रवृत्ति-मार्गी रहो। इसी के अनुसार सुरथ प्रवृत्ति-मार्गी हुआ और समाधि निवृत्ति-मार्गी। कल्याणप्रद दोनों मार्ग हैं।

कल्याण-स्वरूप ईशान के कहने से शुम्भ को सहन-शीलता नष्ट हो गयी। तात्पर्य कि पूर्ण सिद्धि अर्थात् गुणातीतावस्था की उपलब्धि में विलम्ब असह्य हो उठा। तुरन्त अपने काम के लय का साधन करता है क्योंकि बिना वासना-क्षय के न ममता जायगी और न अस्मिता।

इस काम का एक रूप नष्ट होता है, तो अनेक अन्य रूपों की सृष्टि हो जाती है। इसी भाव की द्योतक है यह उक्ति कि रक्तबीज को तलवार से मारो, चक्र से काटो, भाले से बींधो, यह मर तो जाता है, पर इन सबके आघात से जो भी रुधिर-बिन्दु पृथ्वी-तल पर गिरेंगे, उनमें से प्रत्येक से रक्त-बीज जैसा ही पराक्रमी असुर उठ खड़ा हो साधना-समर में आ युद्ध अर्थात् विघ्न करने लगेगा।

'बिन्दु' का अर्थ है यहां संवदेन चित्त-वृत्ति। 'मेदिनी' पद भी रहस्य-गर्भ है। पुराणों में कहा है कि मधु-कैटभ के मेद से पृथ्वी बनी है। मेद है पोषक धातु। मधु-कैटभ राग-द्वेष है। राग द्वेष का पोषक है अस्मिता-भाव। अस्मिता का आश्रित है समस्त जगत्। यह अस्मिता है मन में। इसी से कहा है कि रक्त-बीज अर्थात् काम के बिन्दु अर्थात् ज्ञान के मेदिनी अर्थात् मन में आने से अपर काम का उदय होता है।

काम के पराक्रम से जब साधक की सभी चेतना-शक्तियाँ निराश-प्राय हो जाती हैं, तब अन्तः प्रेरणा होती है कि खेचरी मुद्रा का साधन कर काम की आधार-भूमि मन को निःसंकल्पात्मक बना, तभी तुम्हारे प्रबल शत्रु काम का लय होगा। इसी भाव की रूपकोक्ति है चामुण्डा का काली से यह कहना कि 'तुम अपनी जिह्वा को इतना विस्तारित करो कि रक्त-बीज का रक्त-बिन्दु पृथ्वी पर न गिरने पाये। बीच में ही तुम उन्हें चाटती जाओ।'

ज्ञान-योग में वदन वा ज्ञान के इतने विस्तार से तात्पर्य है कि असोम हो जाय अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' मेरे सिवा कुछ है ही नहीं,' ऐसा ज्ञान होने से किसी भी प्रकार की कामना नहीं रह सकती। भक्ति-योग में ज्ञान का विस्तार यहाँ तक हो कि सब कुछ मेरे भगवान् का ही है। वह जो कुछ वा जितना भी दे, उसकी इच्छा। माँगना अपराध है।

रक्तबीज अर्थात् काम के लय के पश्चात् शेष रह जाती हैं 'ममता' और 'अस्मिता'। इन दो बन्धनों के टूटने पर जीव शिवत्व को पा मातृ-अङ्क में अवस्थित हो जाता है। काम के लय से ममता निर्जीव-प्राय हो जाती है। कारण जब वासना नहीं है, तो वासना की पूर्त्ति पर ममता रहेगी नहीं। इस अवस्था में ममता सीमित हो अस्मिता तक रह जाती है। वा अपने अस्तित्व-भाव की ममता अव-शेष रह जाती है। इसी से उक्ति है कि शुम्भ और निशुम्भ दोनों एक साथ लड़ते हैं। यह युद्ध लम्बे अर्से तक हुआ।

इसमें शुम्भ-निशुम्भ का पराजय होता-होता रह जाता है। अस्मिता वा ममता का लय शीघ्र नहीं होता। जब निशुम्भ मूर्च्छित होता है अर्थात् ममता का क्षणिक लय होता है, तो आठ भुजावाला शुम्भ समस्त आकाश को अपनी दीप्ति से आभा-सित करता रथ पर बैठा हुआ आकर लड़ता है। इस उक्ति में तीन रहस्य हैं—अकेले शुम्भ का रथस्थ हो युद्ध करना, शुम्भ के आठ भुजाओं का होना और अपने प्रकाश से नभ-मण्डल को दीप्त करना।

इन रहस्यों का समाधान यह है कि—

(१) रथ केवल शुम्भ के पास था। कारण रथ है शरीर (क्रिया-योग) यद्वा मन (ज्ञान-योग)। इसी शरीर या मन-रूपी रथ पर बैठ जीव रमण करता है। इसी एक रथ पर जीव की अस्मिता ममता-सहित रहती है। अतः निशुम्भ के पास दूसरा रथ वा अन्य सवारी नहीं थी।

(२) शुम्भ की अष्ट-भुजायें अष्टांग-योग की द्योतक हैं। अब शुम्भ लय-योगी होने जाता है। अतः अपनी अष्टांग योग-सिद्धियों का लय करता है।

(३) उक्त अष्ट-सिद्धियों से प्रकाशित राज-योगी शुम्भ अपनी आभा से नभ अर्थात आत्मा को सर्वतो-मुख दीप्त कर ही युद्ध अर्थात् साधन करने गया।

पहले शुम्भ-निशुम्भ मातृ-गणों से युद्ध अर्थात् अपरा-शक्तियों का साधन करता है। फिर परा-शक्ति चण्डिका का। साधन का ऐसा ही क्रम है। तन्त्र का निर्देश है कि काली, तारा और षोडशी इन महा-विद्याओं का साधन क्रम-दीक्षा के अनुसार ही करे, अन्यथा सिद्धि के बदले अनिष्टापत्ति होती है। इस युद्ध में प्रथम निशुंभ मूर्च्छित हो गिर पड़ता है अर्थात् कुछ समय के लिये ममता का लय हो जाता है। इस अवस्था में साधक-जीव का केवल अहं-भाव ही रहता है, परन्तु जब ममता सक्रिय हो जाती है अर्थात् निशुम्भ जाग उठता है, तब शुम्भ वा अस्मिता-भाव युद्ध से निरस्त हो जाता है। इसी से शुम्भ और निशुम्भ एक साथ युद्ध नहीं करते।

शुम्भ के पश्चात् निशुम्भ लड़ता है अयुत-(दश सहस्र) भुज होकर। अयुत अर्थात् बहु-संख्यक कर्म-योग द्वारा प्राप्त सिद्धि-बल। निशुम्भ पहले चक्र अर्थात् माया के प्रहार से भगवती चण्डिका अर्थात् ब्रह्मानन्द-ज्ञान को ढँकता है। इस माया को द्वैत-प्रतीति भी कहते हैं, जो निशुम्भ वा ममता का ब्रह्मास्त्र है। विदेह-मुक्त के अति-रिक्त जीवन-मुक्त सात्विक भावापन्न साधक को जब माया व्याप्त करती है, तो क्षण भर के लिये। वह निरन्तर स्व-शर अर्थात् पर-प्रणव-रूपी शर से उस चक्र वा माया-जल को काट गिराती है, जैसी मूलोक्ति है। क्रिया-योग में स्व-शर के फेंकने का तात्पर्य प्राण के आरोहणों से, ज्ञान-योग में विज्ञान-रूप आत्मा के ऊर्ध्व-ज्ञान-भूमिका पर आरोहण से और भक्ति-योग में आत्म-समर्पण नाम की प्रक्रिया से है।

निशुम्भ वा ममता का निपात एक ही वार वा एक ही रूप में नहीं होता। हृदय पर शूल अर्थात् ज्ञान-शूल का प्रहार होता है हृदय-स्थित शूल अर्थात् अज्ञान वा अविद्या को निकालने के लिए, परन्तु ज्ञान मात्र से ममता का पूर्णतः लय नहीं होता। इसी से उक्ति है कि निशुम्भ के शूल-विद्ध होने पर उससे एक 'अपर' पुरुष निकला। इसने साधक की आत्म वा प्राण-शक्ति भगवती चण्डिका को ललकारा अर्थात् अपने अस्तित्व की सूचना दी। अपर के दो अर्थ हैं-१ दूसरा और २ वही। निशुम्भ से जो पुरुष निकला, वह था तो वही अर्थात् स्वयं, पर स्थूल दृष्टि से देखने से था दूसरा। ज्ञान से ममता नष्ट होती है, परन्तु बीज रह ही जाता है। यह बीज असि-प्रक्रिया के द्वारा नष्ट होता है। सिर व मस्तक से मूल या भाण्डार का बोध है। इस मूल को महा-ज्ञान-रूपी असि से काटना है।

अब शुम्भ वा अस्मिता-भाव बचता है। यह है परिशुद्ध क्योंकि इसके परिग्रह-भाव, स्तब्धता-भाव, दर्प, काम और ममता सभी नष्ट हो चुके हैं। फिर भी अर्थात् निर्बल होकर भी यह अस्मिता रहती ही है। उक्ति है कि निशुम्भ शुम्भ का प्राण-समान अर्थात् अस्तित्व व्यक्त करनेवाला था। भ्राता का भी अर्थ यहाँ दीप्ति वा व्यक्ति-कारक है। यह भी नष्ट हो जाता है अर्थात् मेरा कोई वा कुछ नहीं। फिर भी यह अकेले अपना ही अस्तित्व रखना चाहता है। तात्पर्य कि अस्मिता-भाव परम दुर्जय है। विशेष कर जब तक यह अपरा चेतना-शक्तियों को देखता रहता है, इसकी द्वैत-प्रतीति नहीं जाती। इसी से शुम्भ ने भगवती चण्डिका से कहा—'तुम व्यर्थ का गर्व करती हो। दूसरों की सहायता से ही तुमने अब तक विजय पाई है।'

इस द्वैत-प्रतीति के लय के लिये भगवती जवाब देती है—'मैं तो हूँ अकेली। दूसरा कौन है? ये मेरी विभूतियाँ हैं, जो मुझसे निकली हैं और फिर मुझमें ही लीन होंगी।'

माँ का यह अन्तिम उपदेश केवल मौखिक नहीं है। इसको वह शुम्भ-सदृश भाग्यशाली कृतोपासकों को व्यवहार-रूप में भी दिखाती है। अब जिस तरह शुम्भ वा अस्मिता अकेले है, वैसे ही भगवती भी अपनी सब विभूतियों को समेट अकेली रह जाती

है। इसी अवस्था में आत्म-लय का अन्तिम साधन किया जाता है।

अब शुंभ मां से लड़ता है अर्थात् आत्म-लय वा अस्मिता-लय की साधना पूर्णतः स्थिर-चित्त हो करता है। जैसा कि भगवती का आदेश है 'आजौ स्थिर भव।' इससे ज्ञान-योग में मन की, क्रिया-योग में प्राण की और भक्ति-योग में अव्यभिचारिणी भक्ति की स्थिरता का बोध है। 'आजौ' के दो अर्थ हैं—१ युद्ध में, २ यातायात वा गमनागमन में। इससे मन और प्राण के आवागमन का तात्पर्य है। कोई भी साधन बिना स्थिर-चित्त और स्थिर-प्राण के असंभव है।

यह युद्ध महा-दारुण ही नहीं, 'सर्व-लोक-भयंकर' हुआ। यहाँ लोक का अर्थ है दर्शन, अतः त्रिलोक से ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय त्रिपुटी वा त्रिपुरी का तात्पर्य है, जिसके लयार्थ जो समर है, वह यथार्थतः महा-भयंकर होता है। कारण यह समर केवल ज्ञाता वा साधक के लयार्थ नहीं है, ज्ञान वा साधन और ज्ञेय वा साध्य का भी लय करने का यह समर है। यही है सर्वश्रेष्ठ आवेदन योग वा असंप्रज्ञात वा निर्विकल्प समाधि का साधन। समाधि किसी भी प्रकार की हो, इसमें प्राण-संयम बड़ा भयंकर होता ही है। इसलिये कि प्राणायाम-प्रक्रिया में प्राणों की 'बाजी' लगानी पड़ती है। वर्तमान शरीर को त्याग कर कहाँ, कैसे जायँगे और फिर किस रूप में परिणत होंगे। तत्-सदृश ही हम अनाख्यावस्था में जाने से डरते हैं। यही महा-भय है। तात्पर्य कि शरीर में—वर्तमान शरीर में रहकर भी क्या से क्या हो जायेंगे, यह हम किसी तरह से भी नहीं जान सकते और न कोई कह ही सकता है।

शुम्भ वा द्वैत-भावापन्न उत्तम साधक द्वैत-भाव-रूपक शर-राशि का प्रयोग करता है अर्थात् अद्वैत-भाव से द्वैत-भाव का सन्तुलन करता है कि कौन श्रेष्ठ है। शुम्भ के शरों अर्थात् द्वैत-सिद्धान्त की युक्तियों को भगवती विमर्श-शक्ति अपने 'इषुओं' से काट देती है। 'इषु' पद का ज्ञान-योग में दर्शन वा ज्ञान-परक अर्थ है और क्रिया-योग में गति-परक। फिर शम्भ शक्ति अर्थात् अपराद्वैत-ज्ञान का प्रयोग करता है, जिसका निरास भगवती करती है सुदर्शन चक्र अर्थात् यथार्थ अद्वैत-ज्ञान से। तब शुम्भ असि वा अद्वैत-सिद्धान्त-खण्डक युक्ति का विचार करता है। यह असि है विपर्यय-ज्ञान वा विक्षेप, जो दूर होता है शर वा ओंकार के प्रयोग से। ढाल और तलवार से अविद्या के आवरण और विक्षेप कला-द्वय का बोध है।

अश्व, रथ, सारथी और सभी अस्त्र-शस्त्रों के नष्ट होने पर वह मुद्गर ले देवी की ओर दौड़ता है। मुद् अर्थात् अस्मिता-भाव के आनन्द को निगल हठी होना। सभी साधनों के नष्ट होने पर भी शुम्भ अद्वैत-प्रतीति को स्वीकार न कर हठी हो जाता है। यह एक प्रकार की विमुग्धावस्था है, जो सत्व-गुणापन्न श्रेष्ठ साधक में भी प्रायः देखी जाती है। भक्त योगियों में यह प्रत्यय प्रबल है। वे अपने इष्ट के नाम-रूप को किसी भी अवस्था में परित्याग कर रूप-नामातीत नहीं होना चाहते। यही है अनुराग-जन्य आग्रह-रूप मुद्गर, जो गुणातीतावस्था का विरोधी साधन है। करुणा-मयी मां भक्त को अपने में मिला लेने के लिये यथार्थ विशेष ज्ञान देती है, जिससे शुम्भ का हठ दूर हो।

मुद्गर के पश्चात् शुम्भ भगवती पर मुष्टि-प्रहार करता है। असंख्य जन्मार्जित अस्मिता-भाव के बीज का द्योतक है मुष्टि। सांख्य-दर्शन में यह प्रकृति वा जीव-धर्म कहा जाता है। जब से जीव में चेतना जाग्रत् हुई कि 'मैं हूँ,' तब से आज तक यह बोज रहा है। इस बोज का नाश अपनी ही प्रतिक्रिया से होता है। प्रतिक्रिया का द्योतक है तल-प्रहार। जब अपनी हृदय-वासिनी भगवती अर्थात् एकता-सिद्धान्त पर मुष्टि-प्रहार कर उस अद्वैत सिद्धान्त का निरास करना चाहता है, तभी यह प्रतिक्रिया होती है। यही भगवती विमर्श शक्ति का तल-प्रहार है।

इस प्रतिक्रिया को इस दृष्टान्त से समझ सकते हैं कि हम किसी विषय वा वस्तु को भूलने की जितनी ही चेष्टा करें, उतना ही वह याद आता है। यदि कोई कहे कि खाते समय कौए का स्मरण न हो, तो अमुक लाभ होगा। हमारे लाख प्रयत्न करने पर

भी कौए को स्मृति आयेगी ही। कारण विस्मरण की प्रतिक्रिया है स्मरण।

'उरसि' से तात्पर्य है हृदय-कमल अर्थात् अनाहत-चक्र का। साधक ब्रह्म-ग्रन्थि का भेदन कर प्राण-शक्ति को मणिपुर में लाया। फिर विष्णु-ग्रन्थि को भेद कर अनाहत में लाया। अब इस तीसरे साधन से रुद्र-ग्रन्थि का भेदन करना चाहता है। ऊपर उठने के लिये धक्के देना है तल-प्रहार। इस प्रक्रिया से साधक को क्षणिक बेहोशी आती है। तात्पर्य कि साधक की प्राण-शक्ति तुरन्त ऊपर नहीं उठ सकती है। बल सञ्चय करने के लिये इसे रुकना पड़ता है।

पृथ्वी-तल है मूलाधार-चक्र और मही-तल है अनाहत। महर्लोक है मही-तल। प्राथमिक साधकों में जो चक्र मूलाधार है, वह ब्रह्म-ग्रन्थि भेद होने पर उस साधक का मूलाधार नहीं कहा जा सकता। उसका मूलाधार होता है मणिपुर। विष्णु-ग्रन्थि भेदन होने पर अनाहत मूलाधार हो जाता है। अतः विष्णु-ग्रन्थि-भेदक शुम्भ साधक का मूलाधार अनाहत चक्र है। यहीं से ऊपर उठ वह रुद्र-ग्रन्थि के भेदन का प्रयत्न करता है। शुम्भ इसी अनाहत चक्र की भित्ति पर गिरता है।

तल-प्रहार से शुम्भ गिरता क्यों है? बात यह है कि अविराम आरोहण से प्राण-शक्ति की हानि की आशंका होने से क्रिया-योग में निरन्तर आरोहण मना है। ज्ञान-योग में भी अविराम आरोहण (ऊर्ध्व-भूमिका पर) निषिद्ध है।

अब शुम्भ मां को पकड़ कर गगन अर्थात् गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है। परन्तु एकबारगी वहाँ पहुँचा नहीं जा सकता। इसी से उक्ति है कि शुम्भ पटक दिया गया। गगन का अर्थ आकाश या शून्य मानें, तो भी अयुक्त नहीं है। आकाश पर पहुँचने से इष्ट-सिद्धि नहीं है। कारण आकाश है गुणी। गुणी पद पर गुणातीत नहीं हो सकता। अतः अब निराधार अर्थात् द्वैत, अद्वैत आदि किसी भाव के आधार पर युद्ध वा साधन नहीं होता। यही है वेदान्तोक्त अत्यन्ताभावावस्था। यही है तन्त्रोक्त निरालम्ब-पुरी। यह कादि-विद्या (काली-क्रम) की एक विशिष्ट बात है। इसका निर्दिष्ट स्थान है सोम-चक्र से ऊपर, जो आज्ञा-चक्र के ऊर्ध्व मानस-चक्र से ऊपर कहा गया है।

साधक! एक बार तुम भी मां को पकड़ने का प्रयत्न करो, जैसे शुम्भ ने पकड़ा था। पकड़ते ही तुम मां के सङ्ग अर्थात् अद्वैत-भावापन्न हो गगन अर्थात् शून्य में चले जाओगे, जहाँ न इदन्ता-भाव रहेगा न अहन्ता। तुम अपने आपको भूल जाओगे। वहीं तुम्हारी व्यवसायात्मिका बुद्धि की परिणति अव्यवसायात्मिका रूप में हो जायगी। मूल वस्तु है मां को पकड़ना और चिपटे रहना। यही है भक्ति-योग-क्रम का आत्म-निवेदन। परन्तु यह पकड़ आदि में क्षणिक ही रहेगी। पर्याप्त अभ्यास करने से यह स्थायी हो जायगी।

इस आकाश-युद्ध से शब्द-ब्रह्म के अनुसन्धान के साधन का बोध है। शब्द-ब्रह्म का ज्ञान होने पर ही परब्रह्म का ज्ञान सम्भव है। शब्द-ब्रह्म का ज्ञान होता है शब्दानुविद्ध समाधि में। यही है निर्विकल्प समाधि की अव्यवहित पूर्वावस्था। बाहु-युद्ध से कुम्भक-प्रक्रिया का बोध है। ज्ञान-योग में विद्या और अविद्या के बलाबल परीक्षा का और भक्ति-योग में आत्म-निवेदन विश्वास और अविश्वास में संघर्ष का यह बाहु-युद्ध परिचायक है। इस युद्ध से मुनियों अर्थात् मनन-शील मात्र लोगों का, जो ब्रह्मविद्या पारंगत नहीं हैं, विस्मित होना उचित है। विस्मित के दो अर्थ हैं—१ आश्चर्यान्वित और २ विशेष प्रकार से स्मित अर्थात् आनन्दित। यहाँ दोनों अर्थ युक्त हैं।

शुम्भ दुबारा गिरता है धरणी-तल पर। ज्ञान-योग में धरणी से विश्व-ज्ञान को धरनेवाली का और क्रिया-योग में आज्ञा-चक्र का तात्पर्य है। अतः शुम्भ की प्राण वा ज्ञान-शक्ति के मानस-चक्र पर अवरोहण से यहाँ बोध है।

शुम्भ फिर भी मुट्ठी बाँध मां से संघर्ष करता है। ठीक है, हठ अर्थात् अस्मिता का संस्कार अभी तक है ही, जो करोड़ों जन्मों से पोषित होता आया

है। फिर वह मां चण्डी के निधनार्थ वेग से दौड़ा। इसका तात्पर्य है अपरिच्छिन्न प्रकाश को अपनी इदन्ता में ले आने से।

उक्ति है कि शुम्भ के वक्षः-स्थल को शूल से विदीर्ण कर मां ने उसे जगती-तल पर गिरा दिया। अस्मिता वा अहन्ता का परिवर्तन वा परिणति इसी प्रकार होती है। व्यक्ति-गत अहन्ता के लय के बाद उसकी परिणति समष्टि-गत अहन्ता वा परा-हन्ता में होती है, जिसमें इदन्ता का लेश-मात्र भाव नहीं रह जाता। अथवा अहन्ता का लय है इदन्ता का लय। शुम्भ के इदन्ता भाव का लय है शुम्भ-वध। शुम्भ का वक्षः-स्थल विदीर्ण क्या हुआ, उसकी बुद्धि ही विदीर्ण हुई। यह बुद्धि है आत्म-बुद्धि, जो नष्ट होकर बुद्धि से जो परे है, उसमें अज्ञात और अनाख्य रूप से मिल गई। यही है अवेदनावस्था वा असंप्रज्ञात-समाधि की अवस्था। निवृत्ति-क्रिया होती है जगती-तल अर्थात् जगत् वा चलायमान वा व्यवसायात्मक तल अर्थात् क्षेत्र पर। इस पर शुम्भ की आत्मा नहीं गिरती, गिरता है इसका शरीर वा कोश। यहाँ कोश से चतुर्थ अर्थात् विज्ञान-मय कोश का बोध है। विज्ञान के लय होने पर सर्वश्रेष्ठ आवेदन योग की अवस्था आती है। यही है आनन्दमयी को पाकर आनन्दमय हो जाना।

अब शुम्भ 'गतासुः' हो जाता है। 'असुः' का अर्थ यदि प्राण लें, तो वह प्राण से, जो कुर्वद-रूप है, रहित हो जाता है। तात्पर्य कि निष्क्रियावस्था में आ जाता है। यदि 'असुः' का अर्थ प्रतिबिम्ब लें, तो वह प्रतिबिम्ब-रहित अर्थात् राज (प्रकाश) से रहित हो गया। तात्पर्य कि प्रतिबिम्ब अर्थात् द्वैत-प्रतीति से रहित हो अद्वैत-प्रतीतिवान हो गया। इसी को लय-योगी कहते हैं।

यहाँ उर्वी-तल पर गिरने की उक्ति है। उर्वी-पद श्रेष्ठवाचक है। अतः वह श्रेष्ठ वा परम-पद को गया।

शुम्भ के गिरने अर्थात् ऊपर उठ जाने से पर्वत (केन्द्र वा चक्र), समुद्र (सप्त-धातु) एवं द्वीप-समूह (कोष) सहित पृथ्वी कांप उठी। स्पन्दन और कम्पन एक ही वस्तु है, जो प्राण-शक्ति के गति-वेग के कारण होता है। यह वह अन्तिम महा-स्पन्दन है, जिसके पश्चात अस्पन्दावस्था आती है। तब जगत् अर्थात् व्यष्टि-जगत् में व्यष्टि-भाव-क्रम में और समष्टि-जगत् में समष्टि-भाव-क्रम में परमानन्दावस्था आ जाती है, नभ वा दहराकाश पूर्ण निर्मल हो जाता है। अस्मिता अन्तिम मल है। यह मल सदाशिव-पर्यन्त में है। इस निर्मलता से पूर्ण गुणातीत पर-शिवत्व की प्राप्ति का बोध है।

जगत् अर्थात् जीव स्वस्थ (आत्म-स्थित) हो जाता है। उल्का-सम्पन्न मेघ-गण (सिञ्चन करने-वाले) शान्त (शीतल) हो गये और नदियाँ (शरीर-स्थित नाड़ियाँ) स्व-मार्ग-गामिनी अर्थात् संशोधित हो चलने लगीं। देव-गण अर्थात् चेतना-राशि प्रफुल्लित हो उठी। गन्धर्व अर्थात् नाद-कारक वर्ग (विशिष्ट चेतना-शक्तियाँ) सुन्दर नाद करने लगे। अप्सरायें नाचने लगीं अर्थात् ब्रह्मानन्द-रस की तरंगें किलोलें मारने लगीं। दिवा अर्थात् ज्ञान-कर वा बुद्धि आवरण-रहित हो सुप्रभ अर्थात् सुन्दर प्रकाश वा ज्ञानवाली हो गई। वायु अर्थात् प्राण-गण पुण्य वा पुनीत हो बहने अर्थात् कर्म करने लगे। अग्नि अर्थात् प्राणाग्नि और ज्ञानाग्नि शान्तिपूर्वक अपने-अपने कर्मों का सम्पादन करने लगीं। दिग-जनित गूँजें अर्थात् परिछिन्नता जन्य प्रतिध्वनि अर्थात् अहं-बोधक ध्वनि बन्द हो गयी। अस्मिता के लक्ष्य होने पर आत्मा में शब्दानुविद्धता का लय हो ही जाता है।

इस प्रकार गुरु मेधस् ने देवी (विज्ञान-ब्रह्म वा प्रकाश-शक्ति) का माहात्म्य प्रकृत शिष्य-वाच्य सुरथ को सुनाया और देवी के प्रत्यक्ष दर्शन की प्राप्ति-निमित्त क्रियात्मक शिक्षण भी दिया। तात्पर्य कि मनन और निदिध्यास के लिए श्रवण करा उनकी विधियाँ भी बताईं। ऐसा ही श्रौत निर्देश है।

सुरथ यथार्थ में शिष्य थे। उन्हें गुरु-वाक्य में पूरी श्रद्धा थी और अपने को शास्त्र के अनुशासन में रखने की क्षमता थी। इसी से गुरु के उपदेश के

अनुसार नदी के पुलिन अर्थात् निरन्तर-वाहिनी सुषुम्ना-नाड़ी के तट पर साधन किया। ज्ञान-योग में नदी से ज्ञान-नदी का बोध है, जिसमें निरन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि महा-वाक्यों की धारा बहती रहती है। भक्ति-योग में यह है प्रेम-नदी।

इसी नदी के तट पर अम्बा के 'संदर्शनार्थ' अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभूति के निमित्त निरन्तर तीन वर्ष (एक वर्ष प्राथमिक प्राणायाम में, दूसरा मध्यम प्रकार के प्राण-संयम में और तीसरा वर्ष उत्तम प्राणायाम में अथवा अनाहत वा हृदय, आज्ञा-चक्र वा मानस और सहस्रार वा ब्रह्मरन्ध्र इन तीन स्थानों में ध्यान लगाया।) निराहार यताहार (आहार है प्राण-वायु का। इसे खाकर अर्थात् श्वास लेते हुये भी और श्वास नहीं भी लेते हुये) रह अम्बा की मृण्मयी मूर्त्ति (प्रतीकालम्बोपासना, जो साधन के आदि व मध्यमावस्था में भी आवश्यक है) बना पुष्प (चित्त वृत्तियाँ), धूप से अग्नि का तर्पण (ज्ञानाग्नि में विषय-वृत्तियों की आहुति) और निज-गात्र के रक्त की बलि अर्पण कर साधना की। ऐसी ही साधना से भगवती चण्डी वा प्राण महा शक्ति वा महा-चिति प्रत्यक्ष होती हैं।

यही है श्री दुर्गा माँ की माहात्म्य-गाथा का रहस्य, जो केवल पढ़ने (श्रवण) की ही वस्तु नहीं, अपिच मनन करने की और सद्गुरु से सीखकर साधन करने की वस्तु है।

शन्नः कौलिकः।

श्री जगदम्बार्पणमस्तु॥

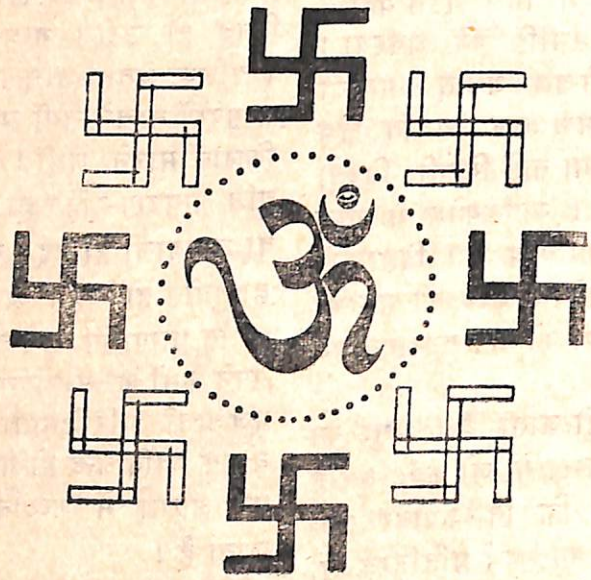

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग—६

अघोरी का उपदेश	१.००
अध्यात्म चर्चा	१-५०
अक्षयवट	०-५०
आगमोक्त-योग-साधना	२-००
आनन्दलहरी	२-२५
आपदुद्धार वटुकभैरव स्तोत्र	१-००
आरतिमाला	०.७५
उच्छव गीताञ्जलि	२-५०
उपदेश मुक्तावली दो भाग	६-५०
ककारादि काली-नाम-साहस्रं	१-००
कमला नित्यार्चन	३-००
कमला स्तव मञ्जरी	३-००
कामधेनु तन्त्र	२-५०
क्या रामचरित मानस तन्त्र है ?	९-००
श्री काली कल्पतरु	१५-००
काली कर्पूर स्तवः	१-५०
काली तन्त्र	३-००
काली नित्यार्चन	५- ०
काली स्तव मञ्जरी	(यन्त्रस्थ)
काली स्वरूप तत्व	३-००
कुलार्णव तन्त्र	(यन्त्रस्थ)
कौल कीर्तन	१-२५
क्रम-दीक्षा-पूर्वक पूर्णाभिषेक	३-००
गायत्री तत्व विमर्श	२-००
गुप्त साधन तन्त्र	२-५०
चक्रपूजा के स्तोत्र	२-००
चण्डिका माहात्म्य	१-००
चण्डी चरितावली	०-७५
छिन्नमस्ता नित्यार्चन	३-००
तत्व-विवेचन	१-५०
तान्त्रिक पञ्चाङ्ग	४-००
तान्त्रिकमाह्निकम्--संक्षिप्तं	४-५०
तारापुर का महामानव	९-००
तारा स्वरूप तत्व	३-००
तारा नित्यार्चन	४-००
तारा स्तव मञ्जरी	३-००
तोडल तन्त्र	२-००
दकारादि श्रीदुर्गा-नाम-साहस्रं	०-७५
दुर्गा नित्यार्चन	३-००
दुर्गा सप्तशती (शब्दशः पद्यानुवाद)	२-००
दोहावली	०-७५
धन-प्राप्ति के प्रयोग	१-५०
धर्म-मार्ग पर	४-००
नवरात्र पूजा पद्धति (वैदिक)	१-५०
नवरात्र पूजा पद्धति (पौराणिक)	३-००
नवरात्र विशेषाङ्क	३०-००
निर्वाण तन्त्र	२-००
निरुत्तर तन्त्र	(यन्त्रस्थ)
नील तन्त्र	३-००
पञ्चमकार तथा भाव-त्रय	६-००
पञ्च-मकार विशेषाङ्क	२०-००
परशुराम तन्त्र	१-००
परातन्त्र	३-००
पारायण-विधि	२-००
बाला नित्यार्चन	४-००
बाला स्तव मञ्जरी	(यन्त्रस्थ)
भगवती गीता	५-५०
भुवनेश्वरी नित्यार्चन	४-००
भुवनेश्वरी विशेषाङ्क	३०-००
भुवनेश्वरी रहस्य	३-००
भुवनेश्वरी स्तव मञ्जरी	३-००
भैरवी चक्र पूजन	१-००
मन्त्रात्मक सप्तशती (प्रथम भाग)	९-००
मन्त्र-कोष	(यन्त्रस्थ)
मन्त्रसिद्धि का उपाय	२-००
महाचीनाचार-सार तन्त्र	१-५०

महामाया-त्रयी	२-००
मातृ-उपासना	२-५०
मातृका-भेद तन्त्र	(यन्त्रस्थ)
मुद्राएँ एवं उपचार	३·००
मानस पूजन	१-००
मुमुक्षु-मार्ग (तीन भाग)	(यन्त्रस्थ)
वाममार्ग	६-००
बगला नित्यार्चन	३-००
बगला पूजा पद्धति-वैदिक	२-००
बगला विशेषाङ्क	३०-००
बन्दे-मातरम्	२-००
विनय सुधा	१-२५
शतचण्डी विधान	३·७५
शाक्त दर्शन	३·००
शाक्त धर्म क्या है ?	३-००
शाक्त-धर्म विशेषाङ्क	३०-००
शक्ति-तत्व	५-००
श्यामा सपर्या वासना	४-५०
श्यामा पूजा पद्धति	(यन्त्रस्थ)
श्री कल्पद्रुम (दो भाग)	५-५०
श्री त्रिपुरा महोपनिषद्	१-५०
श्री नाथादि गुरु-त्रयं	३-५०
श्री ललिता नित्यार्चन	४-००
श्री श्रीविद्या नित्यार्चन	५-५०
श्री श्रीविद्या स्तव मञ्जरी	(यन्त्रस्थ)
श्री श्रीविद्यार्णव तन्त्र प्रथम खण्ड (पूर्वार्द्ध)	१७-५०
श्री षोडशी नित्यार्चन	४-००
श्री षोडशी विशेषाङ्क	३०-००
सन्तान-सुख-प्राप्ति के प्रयोग	१-००
सप्तशती-मीमांसा	२-५०
सप्तशती-रहस्य	३-५०
साधना-रहस्य	१५-००
सप्तशती-तत्व	९-००
सप्तशती विशेषाङ्क	३०-००
सविधि श्री विद्या खड्ग-माला	४-००
सार्थ सौन्दर्य-लहरी	५-५०
साधक का संवाद	४-५०
सांख्यायन तन्त्र	३-००
सौन्दर्यलहरी पद्यानुवाद	२-००
हिन्दी कुलार्णव	३-००
हिन्दी कौलावली निर्णय	५-००
हिन्दी शाक्तानन्द तरङ्गिणी	३·५०
हिन्दी तन्त्रसार ६ भाग सजिल्द	१५-००
ज्ञानसङ्कलिनी तन्त्र	३०·००
हिन्दुओं की पोथी	३-००
Wine to Women	2.00

—: ❀ :—

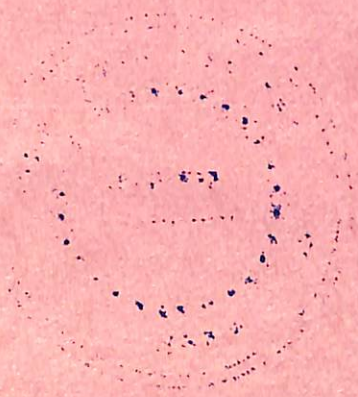

विशुद्ध चण्डी (श्री दुर्गा सप्तशती)

विशुद्ध चण्डी
श्रीदुर्गा सप्तशती
मूल्य-६·०० रु०
सम्पूर्ण पूजा-विधि सहित सप्तशती का
शुद्ध सचित्र संस्करण
चण्डी कार्यालय
इलाहाबाद २११००६

मन्त्रात्मक सप्तशती

(तीन भागों में)

नवरात्र-कल्पतरु

मूल्य १२-००